साहित्य-मंजूषा

भाग 2

साहित्य-मंजूषा

भाग 2

कक्षा 12 के लिए ऐच्छिक हिंदी की पाठ्यपुस्तक

संपादक
चन्द्रा सदायत

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

ISBN 81-7450-176-2

मार्च 2003

फाल्गुन 1924

PD 150T MK

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्लू.सी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	निकट : धनकल बस स्टॉप, पनिहटी
नई दिल्ली 110 016	**बैंगलूर 560 085**	**अहमदाबाद 380 014**	**कोलकाता 700 114**

प्रकाशन सहयोग

संपादन	मीरा कांत
उत्पादन	कल्याण बैनर्जी
	अतुल सक्सेना
आवरण	कल्याण बैनर्जी

रु. 35.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा यंग प्रिंटिंग प्रैस, 2626, गली नं. 7, बिहारी कालोनी, शाहदरा, दिल्ली 110 032 द्वारा मुद्रित।

आमुख

शिक्षा एक निरंतर विकासशील प्रक्रिया है, इसलिए नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नए पाठ्यक्रम के विकास और नई पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य सतत चलता रहता है। सन 2000 में परिषद् ने विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा तैयार की और उसके आधार पर विभिन्न पाठ्यक्रमों में संशोधन एवं परिवर्तन किए गए। नवनिर्मित पाठ्यक्रमों के अनुरूप परिषद् ने नवीन पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का निश्चय किया है। इसी क्रम में प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक **साहित्य-मंजूषा भाग 2** कक्षा 12 के उन विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है, जो ऐच्छिक हिंदी के रूप में हिंदी भाषा और साहित्य के अध्ययन द्वारा उसकी भाषा-संरचना और साहित्य चेतना के विकास के विविध स्तरों का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं।

पाठ्यक्रम संरचना की प्रक्रिया में हिंदी अध्ययन-अध्यापन की चली आती पद्धतियों और उनके द्वारा रचे जाते किशोर-मानस को आधुनिक जीवन-परिवेश, समकालीन राष्ट्रीय यथार्थ और उसकी गंभीर अर्थवत्ता से तर्कसंगत ढंग से संबद्ध करने, दिन-प्रतिदिन बदलती जीवन-चुनौतियों के बीच मानव मूल्यों के प्रति अडिग आस्था बनाए रखने की प्रेरणा और दिशा-निर्देश देने वाले पाठों का संचयन पाठ्यपुस्तक की आधारभूत आवश्यकता रही है, जिसे यहाँ प्रत्येक स्तर पर अनुभव किया जा सकता है।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थी विषय का व्यवस्थित अध्ययन आरंभ करते हैं और विषय की गहराई से भी परिचित होते हैं। पुस्तक में पाठ्यसामग्री का संकलन विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता, रुचि तथा भाषिक योग्यता को दृष्टि में रखकर किया गया है। पाठों के चयन में जीवन के विविध संदर्भों, नागरिकों के मूल कर्तव्यों, शिक्षाक्रम के केंद्रिक घटकों, मानवाधिकार तथा मूल्यपरक विषयों के समावेश पर बल दिया गया है। साथ ही विषयगत विविधता और रोचकता का विशेष ध्यान रखा गया है।

इस पाठ्यपुस्तक के दो खंड हैं — गद्य खंड और काव्य खंड। गद्य खंड में विचारात्मक, वर्णनात्मक, आत्मपरक और व्यंग्यात्मक निबंधों के साथ यात्रा वृत्तांत, कहानी, आत्मकथा आदि गद्य की विभिन्न विधाओं पर आधारित पाठों का समावेश है तो काव्य-खंड में हिंदी के प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों की कविताओं का।

पुस्तक का सामान्य क्रम यह है — प्रारंभ में लेखक विशेष का परिचय, फिर उसकी रचना और अंत में प्रश्न-अभ्यास। मौखिक अभिव्यक्ति के महत्त्व को देखते हुए प्रश्न-अभ्यास में लिखित प्रश्नों के साथ मौखिक प्रश्न भी जोड़े गए हैं, ताकि विद्यार्थी शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण के साथ अपने भावों और विचारों को मौखिक रूप से व्यक्त करने की योग्यता अर्जित कर सकें। योग्यता-विस्तार के अंतर्गत कुछ ऐसे प्रश्न और क्रियाकलाप भी सम्मिलित किए गए हैं, जिनके द्वारा विद्यार्थियों में पठित विषय के बारे में और अधिक ज्ञान की वृद्धि हो तथा उनमें रचनात्मक प्रतिभा और स्वाध्याय की प्रवृत्ति का विकास भी हो।

शिक्षण और परीक्षण दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत पुस्तक में उतनी सामग्री देना उचित समझा गया है, जिसका निर्धारित समय में सुविधापूर्वक पठन-पाठन किया जा सके। साथ ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि इस पुस्तक में हिंदी के प्रमुख लेखकों, कवियों, साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं महत्त्वपूर्ण विधाओं और शैलियों का प्रतिनिधित्व भी हो जाए।

इस पुस्तक के निर्माण में हमें अनेक शिक्षाविदों, भाषाशास्त्रियों और अध्यापकों का सहयोग मिला है। मैं इन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

जिन लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाएँ इस पाठ्यपुस्तक में सम्मिलित किए जाने की अनुमति दी है, उनके प्रति मैं विशेष रूप से अपना आभार व्यक्त करता हूँ ।

आशा है विद्यार्थियों की भाषिक तथा साहित्यिक रुचियों के विकास की दृष्टि से यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी। इस पुस्तक के परिष्कार के लिए सुविज्ञजनों की प्रतिक्रियाओं और सुझावों का हम सदैव स्वागत करेंगे।

जगमोहन सिंह राजपूत

निदेशक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

दिसंबर 2002

नई दिल्ली

पाठ्यपुस्तक समीक्षा-संशोधन कार्यगोष्ठी के सदस्य

1. निरंजन कुमार सिंह
अवकाश प्राप्त रीडर
सा.वि.एवं मा.शि. विभाग
एन.सी.ई.आर.टी.
नई दिल्ली

2. मैनेजर पाण्डेय
प्रोफ़ेसर एवं *अध्यक्ष*
भारतीय भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

3. विजयबहादुर सिंह
प्रोफ़ेसर एवं *अध्यक्ष*
उच्च शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान
भोपाल, मध्य प्रदेश

4. आनंद प्रकाश व्यास
अवकाश प्राप्त रीडर
शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

5. अनिरुद्ध राय
अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर
सा.वि.एवं मा.शि. विभाग
एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली

6. मानसिंह वर्मा
अवकाश प्राप्त अध्यक्ष
हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज
मेरठ, उत्तर प्रदेश

7. रमा सिंह
अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर एवं *अध्यक्ष*
हिंदी विभाग, जयनारायण व्यास
विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

8. लीलाधर 'पर्वतीय'
अवकाश प्राप्त उपनिदेशक
सूचना एवं जनसंपर्क विभाग
उत्तर-प्रदेश शासन
लखनऊ, उत्तर प्रदेश

9. सूर्यनारायण रणसुभे
अवकाश प्राप्त रीडर
हिंदी विभाग, दयानंद कला महाविद्यालय
लातूर, महाराष्ट्र

10. मु.बा. शाह
अवकाश प्राप्त रीडर
हिंदी विभाग, शिवाजी महाविद्यालय
धूलिया, महाराष्ट्र

11. रामबक्ष
रीडर
हिंदी विभाग, जयनारायण व्यास
विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

12. बीना शर्मा
रीडर
हिंदी विभाग
सावित्री कन्या महाविद्यालय,
अजमेर, राजस्थान

13. देवशंकर 'नवीन'
उपसंपादक
नेशनल बुक ट्रस्ट
नई दिल्ली

14. ज्योतिष जोशी
संपादक, हिंदी
ललित कला अकादमी
रवींद्र भवन
नई दिल्ली

15. नीरा नारंग
वरिष्ठ प्राध्यापिका
शिक्षा विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

16. सुरेश पंत
अवकाश प्राप्त प्रवक्ता, हिंदी
रा.उ.मा. बाल विद्यालय
जनकपुरी, नई दिल्ली

17. सविता सक्सेना
प्रवक्ता, हिंदी
बप्पा श्री नारायण वोकेशनल पी.जी. कॉलेज
लखनऊ , उत्तर प्रदेश

18. विमला उप्रेती
अवकाश प्राप्त प्रवक्ता, हिंदी
इंटर कॉलेज
लखनऊ,उत्तर प्रदेश

19. तान्या खुराना
उपप्राचार्या
केंद्रीय विद्यालय, केशवपुरम्
लारेंस रोड
दिल्ली

20. आशा शर्मा
वरिष्ठ अध्यापिका, हिंदी
जवाहर नवोदय विद्यालय
मुंगेशपुर, दिल्ली

21. राधिका शर्मा
वरिष्ठ अध्यापिका, हिंदी
केंद्रीय विद्यालय, रंगपुरी
नई दिल्ली

22. मंजुरानी सिंह
वरिष्ठ अध्यापिका, हिंदी
केंद्रीय विद्यालय
जे.एन.यू. परिसर, नई दिल्ली

23. सुरक्षा नैनवाल
वरिष्ठ अध्यापिका, हिंदी
रा.क.उ. माध्यमिक विद्यालय
किदवई नगर, नई दिल्ली

24. अजय कुमार नौरिया
वरिष्ठ अध्यापक, हिंदी
राजकीय सह शिक्षा उच्चतर
माध्यमिक विद्यालय
लाजपत नगर, नई दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

25. संध्या सिंह
रीडर

26. लालचंद राम
प्राध्यापक

27. चन्द्रा सदायत **(समन्वयक)**
रीडर

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं,रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे; और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके।

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो. क. गांधी

विषय-सूची

गद्य खंड

भूमिका

हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल को गद्‌य काल भी कहा जाता है, क्योंकि इस काल में हिंदी गद्‌य का अभूतपूर्व विकास हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र को इस युग का प्रवर्तक माना जाता है। यद्‌यपि हिंदी में छिटपुट रूप से गद्‌य के उदाहरण 19वीं सदी से पहले भी मिलते हैं और हिंदी गद्‌य के विकास का एक प्रयास 19वीं सदी के आरंभिक समय में फोर्ट विलियम कॉलेज के माध्यम से हुआ था, लेकिन समकालीन जीवन से जुड़े हिंदी गद्‌य का सुव्यवस्थित और अनवरत प्रवाह भारतेंदु युग से ही दिखाई देता है। इस गद्‌य का एक रूप भारतेंदु और उनके मंडल के लेखकों में दिखाई देता है तो दूसरा राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की हिंदुस्तानी हिंदी में, जिसका अत्यंत परिष्कृत रूप हमें प्रेमचंद की हिंदी में मिल जाता है। यह वही काल खंड है जब फ़ारसी के शायर ग़ालिब उर्दू अथवा रेख्ता अथवा हिंदवी में अपनी शायरी कर रहे थे और अपने मित्रों, परिचितों, शिष्यों तथा आत्मीयों को ख़त लिखते हुए प्रारंभिक हिंदी गद्‌य की एक शैली का निर्माण कर रहे थे।

19वीं सदी में संपूर्ण देश में नवजागरण की जो लहर आई उसने हिंदी भाषा और साहित्य को भी प्रभावित किया। भारतीय समाज में शिक्षा के नए विकास और मुद्रण-व्यवस्था के आरंभ के कारण गद्‌य का लेखन और प्रकाशन संभव हुआ। नवजागरण के कारण सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के विभिन्न आंदोलनों से एक नई सामाजिक चेतना विकसित हुई। साथ ही सन 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की असफलता के बाद अंग्रेज़ी राज के शोषण और दमन के विरुद्‌ध राष्ट्रीय भावना का जो उदय हुआ उसने भी देश की राजनीतिक स्थिति के वर्तमान और भविष्य के बारे में देशवासियों को सोचने की प्रेरणा दी। इस वैचारिक वातावरण में गद्‌य के निर्माण और विकास की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिसके परिणामस्वरूप हिंदी गद्‌य के विभिन्न रूपों का उदय संभव हुआ। उसी समय मुद्रण की व्यवस्था की सुविधा के कारण समाचार पत्रों और साहित्यिक

पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन होने लगा जिससे गद्य के विभिन्न रूपों के विकास में बहुत सहायता मिली।

भारतेंदु युग हिंदी गद्य की परंपरा के विभिन्न रूपों के निर्माण का युग है। इस काल में एक ओर निबंध, नाटक, यात्रा वृत्तांत आदि रचनात्मक गद्य-रूपों का विकास हुआ तो दूसरी ओर देश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के इतिहास के बारे में चिंतन से संबंधित गद्य लेखन का भी आरंभ हुआ। इस युग के गद्य की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है ज़िंदादिली या सजीवता जो उस काल के गद्य में कई रूपों में व्यक्त हुई है। उस ज़िंदादिली का एक उदाहरण बालमुकुंद गुप्त के निबंध **हँसी-खुशी** में दिखाई देता है।

भारतेंदु युग के बाद हिंदी गद्य के स्वरूप में व्यापकता आई और गद्य लेखन में वैचारिक गहराई का भी विकास हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने **सरस्वती** पत्रिका के माध्यम से हिंदी गद्य में ज्ञान के विभिन्न रूपों और पक्षों की अभिव्यक्ति का भी प्रयास किया। इस काल में निबंध, नाटक, कहानी और उपन्यास जैसे गद्य के कलात्मक और सृजनात्मक रूपों के साथ-साथ अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और इतिहास संबंधी वैचारिक गद्य लेखन का व्यापक प्रसार हुआ। इस काल के महत्त्वपूर्ण लेखकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी', पद्म सिंह शर्मा और सरदार पूर्ण सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। इस काल के गद्य में भाषा की व्यंजना शक्ति और गहन विचारशीलता का सामंजस्य दिखाई देता है। यह युग हिंदी गद्य के परिष्कार का युग है।

यद्यपि मुंशी प्रेमचंद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी युग से ही अपने लेखन का आरंभ किया था, लेकिन इन दोनों ने न केवल द्विवेदी युग की गद्य शैली को अधिक परिमार्जित किया और उसे अधिक सृजनात्मक तथा सशक्त बनाया, बल्कि परवर्ती हिंदी गद्य की शक्ति और संभावना की नई राहों का निर्माण भी किया। एक ओर प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से जनजीवन के अनुभव और व्यवहार की भाषा को नई सृजनात्मक ऊँचाई तक पहुँचाया तो दूसरी ओर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विविध मनोविकारों संबंधी निबंधों के माध्यम से हिंदी गद्य को गंभीर चिंतन की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाया। उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन के द्वारा हिंदी आलोचना के सुव्यस्थित विकास का मार्ग प्रशस्त किया तथा हिंदी गद्य को सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण के योग्य

बनाया। पुस्तक में संकलित **मंत्र** कहानी और **क्रोध** निबंध को पढ़कर इन दोनों की गद्य शैली की विशेषताओं से परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

बाद के समय में धीरे-धीरे रचनात्मक गद्य के नए रूपों का विकास और पुराने रूपों में नए प्रयोगों की प्रवृत्ति का प्रसार होता दिखाई देता है। निबंध के स्वरूप में नए प्रयोग की दृष्टि से हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। **आम फिर बौरा गए, नाखून क्यों बढ़ते हैं, अशोक के फूल** जैसे निबंधों की रचना करते हुए द्विवेदी जी ने व्यक्ति व्यंजक और ललित निबंध की एक ऐसी प्रवृत्ति का निर्माण किया जो आगे चलकर विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय के निबंधों में व्यक्त हुई। ऐसे ललित और भावप्रधान निबंधों के साथ-साथ द्विवेदी जी ने विचार प्रधान निबंध भी लिखे। उनके इन निबंधों में एक सहृदय की विचारशीलता मिलती है जिसमें शास्त्र के ज्ञान, परंपरा के बोध और लोकजीवन के अनुभव का सृजनात्मक सामंजस्य है। **भीष्म को क्षमा नहीं किया गया** निबंध में ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

इसी समय अपने चिंतन और लेखन से हिंदी गद्य की अनेक विधाओं को समृद्ध बनाने वाले महान यात्री राहुल सांकृत्यायन का लेखन भी सामने आता है। उन्होंने एक ओर इतिहास और परंपरा की विवेक-यात्रा की तो दूसरी ओर इस पृथ्वी के बीहड़ भूखंडों की अथक यात्रा भी। उन्होंने घुमक्कड़ी को मानव जीवन के एक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जिसके दर्शन **अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा** में किए जा सकते हैं।

हिंदी गद्य में आलोचनात्मक चेतना और प्रयोगधर्मिता के विकास के कारण गद्य की विभिन्न विधाओं में नया निखार आया। संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा आदि विधाओं में नए प्रयोग हुए। साथ ही कुछ विधाएँ आपस में मिलने भी लगीं। उदाहरण के लिए नंददुलारे वाजपेयी की रचना **एक व्यक्ति की झलक** में निबंध, संस्मरण और आलोचना का मिला-जुला रूप दिखाई देता है।

आज़ादी के बाद देश के औद्योगिक और प्रौद्योगिकी विकास की नई योजनाओं के साथ कुछ ऐसी समस्याएँ सामने आईं जिन्होंने मनुष्य और प्रकृति के संबंध के बारे में नए ढंग से सोचने की प्रेरणा दी। औद्योगिक विकास के कारण प्रकृति और पर्यावरण के विनाश की जो प्रक्रिया सारी दुनिया को प्रभावित कर रही है उसके लक्षण भारत में भी दिखाई दे रहे हैं। हाल के वर्षों में भूमंडलीकरण के कारण प्रकृति और पर्यावरण के सामने जो खतरे आए हैं उन्होंने एक ओर प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा के आंदोलनों

को जन्म दिया है तो दूसरी ओर पर्यावरण की रक्षा और प्रकृति के साथ सहयोग की भावना के संबंध में सोचने और लिखने की प्रेरणा भी दी है। इस प्रकार के लेखन में गद्य शैली का एक नया रूप दिखाई देता है। ऐसे गद्य में आज की अनेक ज्वलंत समस्याओं से संबंधित विषयों की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। इस दृष्टि से मानव जीवन की रक्षा के लिए प्रकृति और पर्यावरण संरक्षण एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। पुस्तक में संकलित सुंदरलाल बहुगुणा का निबंध **पर्यावरण या विकास और अस्तित्व या विनाश** इसी विषय से जुड़ा हुआ है।

पाठ्यपुस्तक के निर्माण के समय यह विचार किया गया था कि विद्यार्थियों को समसामयिक हिंदी साहित्य की नई प्रवृत्तियों से भी परिचित कराया जाना चाहिए। आज के हिंदी साहित्य में स्वतंत्र स्त्री-लेखन अपेक्षाकृत नई प्रवृत्ति है। दुनिया भर में स्त्रियों की स्वाधीनता के आंदोलन और स्त्री विषयक चिंतन के विकास के कारण जो नई स्त्री चेतना निर्मित हुई है उसकी अभिव्यक्ति हिंदी साहित्य में भी हो रही है। स्त्रियाँ अपने जीवन के अनुभवों और चिंताओं की अभिव्यक्ति करती हुई आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रमाण के रूप में साहित्य लेखन कर रही हैं। आजकल कला, साहित्य, पत्रकारिता और शिक्षा आदि अनेक क्षेत्रों में स्त्रियाँ आगे आ रही हैं और वे अपने जीवन संघर्ष को साहित्य में व्यक्त भी कर रही हैं। मृदुला गर्ग समकालीन हिंदी कथा साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण लेखिका हैं। उनके लेखन में शिल्प के स्तर पर नए प्रयोग हैं और नए विचारों की अभिव्यक्ति का साहस भी। यहाँ संकलित उनका आत्मपरक निबंध **दिल से गए दिल्ली में** समकालीन गद्य के एक नए रूप की प्रस्तुति और भाषा के नए अंदाज़ के कारण पठनीय है। इसमें दिल्ली जैसे महानगर में मनुष्य के दैनिक जीवन की विडंबनाओं और समस्याओं की जटिलता की ओर लेखिका ने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

समकालीन हिंदी साहित्य में एक और उल्लेखनीय प्रवृत्ति दलित साहित्य के रूप में उभर रही है। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी के एक महत्त्वपूर्ण दलित लेखक हैं। उनकी आत्मकथा **जूठन** का जो अंश इस पुस्तक में है उसे पढ़कर विद्यार्थी दलित समुदाय के कठिन जीवन संघर्ष और दारुण अनुभव से परिचित तो होंगे ही, साथ ही समाज में जो स्वस्थ बदलाव आ रहा है उन्हें उसकी भी जानकारी मिलेगी ।

हिंदी गद्य के स्वरूप के निर्माण में भारतेंदु युग से ही व्यंग्य की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। व्यंग्य केवल निबंध और कहानी तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि

उसका विस्तार उपन्यास और नाटक में भी दिखाई देता है। इतना ही नहीं व्यंग्य एक स्वतंत्र गद्य विधा के रूप में भी विकसित हुआ है। हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य को विशिष्ट कलात्मक स्वरूप प्रदान किया है और उसे सामाजिक-राजनीतिक आलोचना के सशक्त माध्यम के रूप में विकसित किया है। **निंदा रस** नामक निबंध में उनकी व्यंग्य की कला और शक्ति का परिचय मिलता है।

साहित्य-शिक्षण के वैसे तो कोई निश्चित नियम या मानदंड नहीं होते और न ही कोई यांत्रिक विधि। साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य रचना की प्रकृति और उसकी प्रस्तुति पर निर्भर करता है। शिक्षक अपने विवेक और विद्यार्थियों के मानसिक स्तर को ध्यान में रखकर पठन-पाठन को रोचक और प्रभावपूर्ण बनाता है। पाठ्यपुस्तक में संकलित पाठों का संक्षिप्त परिचय इस भूमिका में प्रस्तुत किया गया है, आशा है अध्यापक और विद्यार्थी दोनों इससे लाभान्वित होंगे।

पाठ्यपुस्तक के गद्य खंड में संकलित पाठों को सत्रानुसार पढ़ाने की दृष्टि से **अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा, क्रोध, मंत्र, व्यक्ति की एक झलक, भीष्म को क्षमा नहीं किया गया** प्रथम सत्र में तथा शेष पाठ दूसरे सत्र में पढ़ाए जाने की अनुशंसा की जाती है।

1 राहुल सांकृत्यायन

(1893-1963)

राहुल सांकृत्यायन का जन्म उत्तर प्रदेश के आज़मगढ़ ज़िले के पंदहा गाँव में हुआ था। उनका मूल नाम केदारनाथ पांडेय था। बाद में वे साधु बन गए और नाम पड़ा दामोदर। उनकी आरंभिक शिक्षा रानी की सराय गाँव में हुई। निज़ामाबाद के मिडिल स्कूल में कुछ दिन पढ़ने के बाद वे संस्कृत सीखने काशी आ गए। उन्होंने आगरा और लाहौर में भी अध्ययन किया था। सन 1930 में उन्होंने श्रीलंका जाकर बौद्ध धर्म ग्रहण किया, तब उनका नाम राहुल सांकृत्यायन हुआ। राहुल जी स्वभाव से ही घुमक्कड़ थे। उन्होंने संपूर्ण भारत की यात्रा की। श्रीलंका, तिब्बत, नेपाल, ईरान, चीन, जापान, मंचूरिया, इंग्लैंड, सोवियत संघ आदि देशों में भी गए । उन्होंने मात्र यायावरी के लिए यात्राएँ नहीं कीं, वरन उन्हें अध्ययन-अनुसंधान का माध्यम बनाया। अत्यंत कठिन परिस्थितियों में एक से अधिक बार तिब्बत की यात्रा करके वे दुर्लभ प्राचीन भारतीय ग्रंथों की प्रतियाँ खोजकर लाए। अनेक वर्षों तक वे रूस में भारतीय दर्शन के अध्यापक रहे।

राहुल जी सही अर्थों में महापंडित थे। वे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, तिब्बती, चीनी, जापानी, रूसी एवं सिंहली भाषाओं के जानकार थे। उन्होंने **आदि हिंदी की कहानियाँ, दक्खिनी हिंदी काव्यधारा** और **हिंदी काव्यधारा** प्रस्तुत कर हिंदी साहित्य की लुप्तप्राय सामग्री का उद्धार किया। उपन्यास, कहानी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, आलोचना, शोध आदि क्षेत्रों में भी उनका कार्य उल्लेखनीय है। वे बौद्ध धर्म के विख्यात विद्वान और व्याख्याता थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के अनेक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया जिसमें **मज्झिम निकाय, दीर्घनिकाय** और **विनय पिटक** प्रमुख हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी राहुल जी का भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनमें विषय एवं भाव के अनुरूप भाषा प्रयोग की अद्भुत क्षमता थी।

मेरी जीवन यात्रा (छह भाग), **दर्शन-दिग्दर्शन, बाईसवीं सदी, जय यौधेय, वोल्गा से गंगा, भागो नहीं — दुनिया को बदलो, दिमागी गुलामी, घुमक्कड़ शास्त्र** आदि उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। साहित्य के अलावा राजनीति, दर्शन, धर्म, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान

भी उनकी गहरी पैठ थी। इन विषयों पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। उनके द्‌वारा रचित पुस्तकों की संख्या लगभग 150 है।

प्रस्तुत पाठ उनकी पुस्तक **घुमक्कड़ शास्त्र** का प्रारंभिक अंश है। उन्होंने घुमक्कड़ी को धर्म की श्रेणी में रखते हुए उसे शास्त्र के अनुशासन में बाँधने का प्रयास किया है। तर्कपूर्ण युक्तियों, उदाहरणों और लोकोक्तियों से भरपूर यह निबंध मानव इतिहास में घुमक्कड़ों के योगदान के अछूते पहलू को उजागर करने के साथ-साथ आज के युवक-युवतियों को घुमक्कड़ी-धर्म में दीक्षित होने के लिए आमंत्रित करता है।

अथातो घुमक्कड़ - जिज्ञासा

संस्कृत से ग्रंथ को शुरू करने के लिए पाठकों को रोष नहीं होना चाहिए। आखिर हम शास्त्र लिखने जा रहे हैं, फिर शास्त्र की परिपाटी को तो मानना ही पड़ेगा। शास्त्रों में जिज्ञासा ऐसी चीज़ के लिए बतलाई गई है जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज के लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यास-शिष्य जैमिनि ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की वस्तु नहीं है, आखिर छह शास्त्रों के रचयिता छह आस्तिक ऋषियों में भी आधों ने ब्रह्म को धता बता दिया है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। दुनिया दुख में हो चाहे सुख में, सभी समय यदि सहारा पाती है, तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागवानी तथा घर-द्वार से मुक्त वह आकाश के पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर सदा विचरण करता था, जाड़े में यदि इस जगह था तो गरमियों में यहाँ से दो कोस दूर।

आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि सारे ही विज्ञानों को उससे सहायता मिली। कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन क्या डारविन अपने महान आविष्कारों को कर सकता था यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता?

मैं मानता हूँ, पुस्तकें भी कुछ -कुछ घुमक्कड़ी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फ़ोटो देखकर आप हिमालय के देवदार के गहन वनों और श्वेत हिम-मुकुटित शिखरों के सौंदर्य, उनके रूप, उनकी गंध का अनुभव नहीं कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस रस की प्राप्ति नहीं हो सकती जो कि एक घुमक्कड़ को प्राप्त

होती है। अधिक-से-अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है कि दूसरे अंधों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है जो स्थायी नहीं तो कुछ दिनों के लिए उन्हें घुमक्कड़ बना सकती है। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है? इसीलिए कि उसी ने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम पुरुष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गरम मुल्क में पड़े रहते, तो वे दुनिया को आगे नहीं ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहाई हैं, इसमें संदेह नहीं; और घुमक्कड़ों से हम हर्गिज़ नहीं चाहेंगे कि खून के रास्ते को पकड़ें, किंतु अगर घुमक्कड़ों के काफ़िले न आते-जाते, तो सुस्त मानव-जातियाँ सो जातीं और पशु से ऊपर नहीं उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इतिहास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नहीं पाते किंतु मंगोल-घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते हैं। बारूद, तोप, कागज़, छापाखाना, दिग्दर्शक-चश्मा यही चीज़ें थीं जिन्होंने पश्चिम में विज्ञान-युग का आरंभ कराया और इन चीज़ों को वहाँ ले जाने वाले मंगोल घुमक्कड़ थे।

कोलंबस और वास्को-द-गामा दो घुमक्कड़ ही थे जिन्होंने पश्चिमी देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन-सा पड़ा था। एशिया के कूप-मंडूक घुमक्कड़-धर्म की महिमा भूल गए, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपना झंडा नहीं गाड़ा। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अकल नहीं आई कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते। आज अपने 40-50 (अब एक अरब से आगे) करोड़ की जनसंख्या के भार से भारत और चीन की भूमि दबी जा रही है और आस्ट्रेलिया में एक करोड़ भी आदमी नहीं है। आज एशियायियों के लिए आस्ट्रेलिया का द्वार बंद है, लेकिन दो सदी पहले वह हमारे हाथ की चीज़ थी। क्यों भारत और चीन आस्ट्रेलिया की अपार संपति और अमित भूमि से वंचित रह गए? इसीलिए कि वह घुमक्कड़-धर्म से विमुख थे, उसे भूल चुके थे।

हाँ, मैं इसे भूलना ही कहूँगा, क्योंकि किसी समय भारत और चीन ने बड़े-बड़े नामी घुमक्कड़ पैदा किए थे। वे भारतीय घुमक्कड़ ही थे जिन्होंने दक्षिण-पूरब में लंका, बर्मा, मलाया, यवद्वीप, स्याम, कंबोज, चंपा, बोर्नियो ही नहीं, फिलिपाइन तक का धावा मारा था और एक समय तो जान पड़ा कि न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया भी बृहत्तर भारत का

अंग बनने वाले हैं, लेकिन कूप-मंडूकता, तेरा सत्यानाश हो! इस देश के बुद्धुओं ने उपदेश करना शुरू किया कि समंदर के खारे पानी और हिंदू धर्म में बड़ा बैर है, उसके छूने मात्र से वह नमक के पुतले की तरह गल जाएगा। इतना बतला देने पर क्या यह कहने की आवश्यकता है कि समाज के कल्याण के लिए घुमक्कड़-धर्म कितनी आवश्यक चीज़ है? जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ और जिसने इसे दुराया, उसके लिए नरक में भी ठिकाना नहीं।

शायद किसी को संदेह हो कि मैंने इस शास्त्र में जो युक्तियाँ दी हैं, वह सभी लौकिक हैं। अच्छा तो अब धर्म के प्रमाण लीजिए। दुनिया के अधिकांश धर्मनायक घुमक्कड़ रहे। धर्माचार्यों में आचार-विचार, बुद्धि और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़-राज थे। यद्यपि वह भारत से बाहर नहीं गए लेकिन वर्षा के तीन मासों को छोड़कर एक जगह रहना वह पाप समझते थे। वह स्वयं ही घुमक्कड़ नहीं थे, बल्कि आरंभ ही में अपने शिष्यों से उन्होंने कहा था — "चरथ भिक्खवे! चारिक" जिसका अर्थ है — भिक्षुओ! घुमक्कड़ी करो। बुद्ध के भिक्षुओं ने अपने गुरु की शिक्षा को कितना माना, क्या इसे बताने की आवश्यकता है? क्या वे पश्चिम में मकदूनिया तथा मिस्र से पूरब में जापान तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में बाली और बाँका के द्वीपों तक नहीं पहुँचे? जिस बृहत्तर भारत के लिए हरेक भारतीय को उचित अभिमान है, क्या उस पर इन्हीं घुमक्कड़ों की चरण-धूलि नहीं पड़ी? केवल बुद्ध ने ही अपनी घुमक्कड़ी से प्रेरणा नहीं दी, बल्कि घुमक्कड़ों का इतना ज़ोर बुद्ध से एक-दो शताब्दियों पूर्व भी था जिसके ही कारण बुद्ध-जैसे घुमक्कड़-राज इस देश में पैदा हो सके।

कोई-कोई महिलाएँ पूछती हैं — "क्या स्त्रियाँ भी घुमक्कड़ी कर सकती हैं? क्या उनको भी इस महाव्रत की दीक्षा लेनी चाहिए?" इस बारे में यहाँ इतना कह देना है कि स्त्रियाँ इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं जितना पुरुष। यदि वे जन्म सफल करके व्यक्ति और समाज के लिए कुछ करना चाहती हैं तो उन्हें भी दोनों हाथों इस धर्म को स्वीकार करना चाहिए। घुमक्कड़ी-धर्म छुड़ाने के लिए पुरुष ने नारी के रास्ते में बहुत से बंधन लगाए हैं। बुद्ध ने सिर्फ़ पुरुषों के लिए घुमक्कड़ी करने का आदेश नहीं दिया, बल्कि, स्त्रियों के लिए भी उनका यही उपदेश था।

भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापक श्रमण महावीर कौन थे? वह भी घुमक्कड़-राज थे। घुमक्कड़-धर्म के आचरण में छोटी-से-बड़ी तक सभी

बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया था — घर-द्वार और नारी-संतान ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन कर दिया था। "करतल भिक्षा, तरुतल वास" तथा दिग-अंबर को उन्होंने इसीलिए अपनाया था कि निर्द्वंद्व विचरण में कोई बाधा न रहे। श्वेतांबर बंधु दिगंबर कहने के लिए नाराज़ न हों। वस्तुतः हमारे वैशालिक महान घुमक्कड़ कुछ बातों में दिगंबरों की कल्पना के अनुसार थे और कुछ बातों में श्वेतांबरों के उल्लेख के अनुसार। लेकिन इसमें तो दोनों संप्रदायों और बाहर के मर्मज्ञ भी सहमत हैं कि भगवान महावीर दूसरी-तीसरी नहीं, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते ही पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। और, बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दंभी कहूँगा। आजकल कुटिया या आश्रम बनाकर तेली के बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते हैं या चेलों से कहलवाते हैं, लेकिन मैं तो कहूँगा, घुमक्कड़ी को त्याग कर यदि महापुरुष बना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली में देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूँ कि वह ऐसे मुलम्मे वाले महात्माओं और महापुरुषों के फेर से बचे रहें। वे स्वयं तेली के बैल तो हैं ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।

बुद्ध और महावीर जैसे सृष्टिकर्ता ईश्वर से इनकारी महापुरुषों की घुमक्कड़ी की बात से यह नहीं मान लेना होगा कि दूसरे लोग ईश्वर के भरोसे गुफ़ा या कोठरी में बैठकर सारी सिद्धियाँ पा गए या पा जाते हैं। यदि ऐसा होता, तो शंकराचार्य, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, क्यों भारत के चारों कोनों की खाक छानते फिरे? शंकर को शंकर किसी ब्रह्म ने नहीं बनाया, उन्हें बनाने वाला था यही घुमक्कड़ी धर्म। शंकर बराबर घूमते रहे— आज केरल देश में थे, तो कुछ ही महीने बाद मिथिला में और अगले साल कश्मीर या हिमालय के किसी दूसरे भाग में। शंकर तरुणाई में ही शिवलोक सिधार गए, किंतु थोड़े से जीवन में उन्होंने सिर्फ़ तीन भाष्य ही नहीं लिखे, बल्कि अपने आचरण से अनुयायियों को घुमक्कड़ी का वह पाठ पढ़ा गए कि आज भी उसके पालन करने वाले सैकड़ों मिलते हैं। वास्को-द-गामा के भारत पहुँचने से बहुत पहले शंकर के शिष्य मास्को और यूरोप तक पहुँच गए थे। उनके साहसी शिष्य सिर्फ़ भारत के चार धामों से ही संतुष्ट नहीं थे, बल्कि उनमें से कितनों ने जाकर बाकू (रूस) में धूनी रमाई। एक ने पर्यटन करते हुए

वोल्गा-तट पर निज्नीनो-वोग्राद के महामेले को देखा। फिर क्या था, कुछ समय के लिए वहीं डट गया।

भला हो, रामानंद और चैतन्य का, जिन्होंने पंक के पंकज बनकर आदिकाल से चले आते महान घुमक्कड़ -धर्म की फिर से प्रतिष्ठापना की जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के तो नहीं, किंतु द्वितीय श्रेणी के बहुत-से घुमक्कड़ उनमें पैदा हुए। इसमें किसे उज्र हो सकता है कि शैव हो या वैष्णव,वेदांती हो या सदांती, सभी को आगे बढ़ाया केवल घुमक्कड़-धर्म ने।

महान घुमक्कड़-धर्म, बौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होना क्या था, तब से कूप-मंडूकता का हमारे देश में बोलबाला हो गया। सात शताब्दियाँ बीत गईं और इन सातों शताब्दियों में दासता और परतंत्रता हमारे देश में पैर तोड़कर बैठ गई, यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। लेकिन समाज के अगुवों ने चाहे कितना ही कूप-मंडूक बनाना चाहा, लेकिन इस देश में माई के लाल जब-तब पैदा होते रहे जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया। हमारे इतिहास में गुरु नानक का समय दूर का नहीं है, लेकिन अपने समय के वे महान घुमक्कड़ थे। उन्होंने भारत-भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा और ईरान और अरब तक का धावा मारा। घुमक्कड़ी किसी बड़े योग से कम सिद्धिदायिनी नहीं है और निर्भीक तो वह एक नंबर का बना देती है। घुमक्कड़ नानक मक्के में जाकर काबा की ओर पैर फैलाकर सो गए। लोगों ने इस पर एतराज़ किया और पैर पकड़कर दूसरी ओर करना चाहा। उनको यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जिस तरफ़ घुमक्कड़ नानक का पैर घूम रहा है, काबा भी उसी ओर चला जा रहा है। यह है चमत्कार! आज के सर्वशक्तिमान, किंतु कोठरी में बंद महात्माओं में है कोई ऐसा, जो नानक की तरह हिम्मत और चमत्कार दिखलाए ?

दूर शताब्दियों की बात छोड़िए, अभी शताब्दी भी नहीं बीती, इस देश से स्वामी दयानंद को विदा हुए। स्वामी दयानंद को ऋषि दयानंद किसने बनाया ? घुमक्कड़ी-धर्म ने। उन्होंने भारत के अधिकांश भागों का भ्रमण किया। पुस्तक लिखते, शास्त्रार्थ करते वह बराबर भ्रमण करते रहे। उन्होंने समुद्र-यात्रा करने, द्वीप-द्वीपांतरों में जाने के विरुद्ध जितनी थोथी दलीलें दी जाती थीं, सबको चिद्दी-चिद्दी उड़ा दिया और बतलाया कि मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है। जिसने उसे छोड़ा, वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के भारतीय घुमक्कड़ों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि कोई अनादि सनातन-धर्म है तो वह घुमक्कड़-धर्म है। लेकिन वह संकुचित संप्रदाय नहीं है, वह आकाश की तरह महान है, समुद्र की तरह विशाल है। जिन धर्मों ने अधिक यश और महिमा प्राप्त की है, वह केवल घुमक्कड़-धर्म ही के कारण। प्रभु ईसा घुमक्कड़ थे। उनके अनुयायी भी ऐसे घुमक्कड़ थे, जिन्होंने ईसा के संदेश को दुनिया के कोने-कोने में पहुँचाया। यहूदी पैगंबरों ने घुमक्कड़ी-धर्म को भुला दिया जिसका फल शताब्दियों तक उन्हें भोगना पड़ा। लेकिन विषयांतर में न जाकर हमें यह कहना था कि यह घुमक्कड़ी-धर्म है जिसने यहूदियों को केवल व्यापार-कुशल, उद्योग-निष्णात ही नहीं बनाया, बल्कि विज्ञान, दर्शन, साहित्य, संगीत सभी क्षेत्रों में चमकने का मौका दिया। समझा जाता था कि व्यापारी तथा घुमक्कड़ यहूदी युद्ध विद्या में कच्चे निकलेंगे, लेकिन उन्होंने पाँच-पाँच अरबी साम्राज्यों की सारी शेखी को धूल में मिलाकर चारों खाने चित्त कर दिया।

इतना कहने से अब कोई संदेह नहीं रह गया कि घुमक्कड़-धर्म से बढ़कर दुनिया में धर्म नहीं है। घुमक्कड़ होना आदमी के लिए परम सौभाग्य की बात है। यह पंथ अपने अनुयायी को मरने के बाद किसी काल्पनिक स्वर्ग का प्रलोभन नहीं देता, इसके लिए तो कह सकते हैं — "क्या खूब सौदा नकद है — इस हाथ ले, उस हाथ दे।" घुमक्कड़ी वही कर सकता है जो निश्चिंत है। घुमक्कड़ी के लिए चिंताहीन होना आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं, भूषण है। घुमक्कड़ी से बढ़कर सुख कहाँ मिल सकता है? आखिर चिंताहीनता तो सुख का सबसे स्पष्ट रूप है । घुमक्कड़ी में कष्ट भी होते हैं, लेकिन उसे इसी तरह समझिए, जैसे भोजन में मिर्च। मिर्च में यदि कड़वाहट न हो, तो क्या कोई मिर्च-प्रेमी उसे हाथ भी लगाएगा? वस्तुतः घुमक्कड़ी में कभी-कभी होने वाले कड़वे अनुभव उसके रस को और बढ़ा देते हैं, उसी तरह जैसे काली पृष्ठभूमि में चित्र अधिक खिल उठता है।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई नकद धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ों पर निर्भर करता है, इसलिए मैं कहूँगा कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़-व्रत ग्रहण करना चाहिए। इसके विरुद्ध दिए जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का समझना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते हैं, तो समझना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हित-बांधव बाधा उपस्थित

करते हैं, तो समझना चाहिए कि वे दिवांध हैं। यदि धर्म-धर्माचार्य कुछ उल्टा-सीधा तर्क देते हैं तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगी और ढोंगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने नहीं दिया। यदि राज्य और राजसी नेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं, तो हज़ारों बार की तजुर्बा की हुई बात है कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकने वाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य-सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंककर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक से अधिक बार किया है। (पहली तिब्बत-यात्रा में मुझे अंग्रेज़ों, नेपाल-राज्य और तिब्बत के सीमा रक्षकों की आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यदि कोई तरुणी-तरुण घुमक्कड़-धर्म की दीक्षा लेता है तो यह मैं अवश्य कहूँगा कि यह दीक्षा वही ले सकता है जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है — तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की। उन्हें मेरे गुरु कपोतराज के वचन को अपना पथ-प्रदर्शक बनाना चाहिए —

सैर कर दुनिया की गाफ़िल, ज़िंदगानी फिर कहाँ?
ज़िंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ?
— इस्माइल (मेरठी)

दुनिया में मनुष्य-जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. जिज्ञासा किसके प्रति होनी चाहिए?
2. लेखक ने चार्ल्स डार्विन के महान आविष्कारों का श्रेय किसको दिया है?
3. शंकराचार्य को बड़ा बनाने में घुमक्कड़ी धर्म का क्या योगदान है?

4. द्वितीय श्रेणी के घुमक्कड़ से लेखक का क्या आशय है?
5. घुमक्कड़ी से प्राप्त कटु अनुभव भी उसके रस को कैसे अधिक बढ़ा देते हैं?

लिखित

1. लेखक ने अपने निबंध के शीर्षक में 'जिज्ञासा' शब्द जोड़ना क्यों उचित ठहराया है?
2. यात्रा कथाएँ घुमक्कड़ी का वास्तविक रस क्यों प्रदान नहीं कर सकती हैं?
3. लेखक ने किन-किन उदाहरणों द्वारा घुमक्कड़ को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति सिद्ध किया है?
4. लेखक के अनुसार घुमक्कड़-धर्म की महिमा भूल जाने से चीन और भारत की क्या हानि हुई?
5. राहुल जी ने 'तेली के बैल' किन्हें कहा है और क्यों?
6. लेखक के अनुसार भारत से बौद्ध धर्म के लुप्त होने का क्या दुष्परिणाम निकला?
7. लेखक युवाओं को घुमक्कड़-धर्म ग्रहण करने का परामर्श क्यों देता है?
8. लेखक ने घुमक्कड़ी को नकद धर्म क्यों कहा है?
9. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) यदि कोई अनादि सनातन धर्म है तो वह घुमक्कड़-धर्म है। लेकिन यह संकुचित संप्रदाय नहीं है।
   (ख) घुमक्कड़ी के लिए चिंताहीन होना आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं, भूषण है।

योग्यता-विस्तार

1. राहुल सांकृत्यायन के अतिरिक्त अज्ञेय, रामवृक्ष बेनीपुरी, देवेंद्र सत्यार्थी, नागार्जुन जैसे अन्य साहित्यकारों ने भी रोचक यात्रा वृत्तांत लिखे हैं। उनमें से किसी एक द्वारा लिखित यात्रा वृत्तांत को पढ़कर कक्षा में उसकी विशेषताओं पर चर्चा कीजिए।
2. राहुल जी की प्रथम तिब्बत-नेपाल यात्रा के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए जब वे अंग्रेज़ों की आँखों में धूल झोंककर वहाँ जाने में सफल हुए थे।

शब्दार्थ और टिप्पणी

अथातो - यह
जिज्ञासा - जानने की इच्छा
रोष - गुस्सा
परिपाटी - परंपरा, पद्धति
धता बताना - टाल देना

घुमक्कड़	-	जगह-जगह घूमने वाला, यायावर
विचरण करना	-	घूमते रहना
कोल्हू का बैल	-	सीमित स्थान पर कठिन परिश्रम करने वाला, समय बिताने वाला
आलोक	-	प्रकाश, जानकारी
आदिम	-	सभ्यता के विकास से पूर्व का मनुष्य
उज्र	-	आपत्ति, विरोध
वेदांती	-	ब्रह्मवादी
सदांती	-	बौद्ध धर्म को मानने वाला
प्रशस्त	-	विस्तार
कूप-मंडूक	-	सीमित ज्ञान वाला, कुएँ का मेंढक,
विचरा	-	विचरण, घूमना
प्रतिष्ठापक	-	प्रतिष्ठा दिलाने वाला, ख्याति दिलाने वाला
दिगंबर	-	जैन धर्म की एक शाखा या संप्रदाय, जो वस्त्र नहीं पहनते
दंभी	-	घमंडी, अभिमानी
तरुणाई	-	युवावस्था
पंक	-	कीचड़
चिद्दी-चिद्दी उड़ाना	-	आमूल नष्ट करना
स्थावर	-	स्थिर, जड़बुद्धि
जंगम	-	चैतन्य, गतिशील
निष्णात	-	कुशल
अन्योन्याश्रय	-	एक-दूसरे पर आश्रित होना
दूषण	-	दोष
दिवांध	-	दिन में न देख सकने वाला, आँखें होते हुए भी अंधे

2 रामचंद्र शुक्ल
(1884-1941)

रामचंद्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले के अगोना गाँव में हुआ था। उनकी विधिवत शिक्षा इंटरमीडिएट तक ही हो पाई। उनकी आरंभिक शिक्षा उर्दू-अंग्रेज़ी और फ़ारसी में हुई थी। बाद में उन्होंने स्वाध्याय द्‌वारा संस्कृत, अंग्रेज़ी, बँगला और हिंदी के प्राचीन तथा नवीन साहित्य का गंभीरता से अध्ययन किया। कुछ समय तक वे मिर्ज़ापुर के मिशन हाई स्कूल में चित्रकला के अध्यापक रहे। सन 1905 में वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा में **हिंदी शब्द सागर** के निर्माण कार्य में सहायक संपादक के पद पर नियुक्त होकर काशी आ गए और बाद में काशी हिंदू विश्वविद्‌यालय में हिंदी के प्राध्यापक बने। बाबू श्यामसुंदर दास के अवकाश ग्रहण के बाद हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे और इसी पद पर कार्य करते हुए यहीं उनका निधन हुआ। काशी ही उनकी कर्मस्थली रही।

आचार्य शुक्ल हिंदी के उच्चकोटि के आलोचक, इतिहासकार और साहित्य-चिंतक हैं। विज्ञान, दर्शन, इतिहास, भाषा विज्ञान, साहित्य और समाज के विभिन्न पक्षों से संबंधित लेखों, पुस्तकों के मौलिक लेखन, संपादन और अनुवादों के बीच से उनका जो ज्ञान-संपन्न व्यापक व्यक्तित्व उभरता है वह बेजोड़ है। उन्होंने भारतीय साहित्य की नई अवधारणा प्रस्तुत की और हिंदी आलोचना का नया स्वरूप विकसित किया। हिंदी साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित करते हुए उन्होंने हिंदी कवियों की सम्यक समीक्षा की तथा इतिहास में उनका स्थान निर्धारित किया। आलोचनात्मक लेखन के अलावा उन्होंने भाव और मनोविकार संबंधी उच्चकोटि के निबंधों की भी रचना की।

शुक्ल जी की गद्‌य शैली विवेचनात्मक है, जिसमें विचारशीलता, सूक्ष्म तर्क-योजना तथा सहृदयता का योग है। व्यंग्य और विनोद का प्रयोग करते हुए वे अपनी गद्‌य शैली को जीवंत और प्रभावशाली बनाते हैं। उनके लेखन में विचारों की दृढ़ता, निर्भीकता और आत्मविश्वास की एकता मिलती है। उनका शब्द-चयन और शब्द-संयोजन व्यापक है जिसमें तत्सम शब्दों से लेकर प्रचलित उर्दू शब्दों तक का प्रयोग दिखाई देता है।

अत्यंत सारगर्भित, विचार-प्रधान, सूत्रात्मक वाक्य-रचना उनकी गद्य शैली की एक बड़ी विशेषता है।

आचार्य शुक्ल की कीर्ति का अक्षय स्रोत उनके द्वारा लिखित **हिंदी साहित्य का इतिहास** है। इसे उन्होंने पहले **हिंदी शब्द सागर** की भूमिका के रूप में लिखा था, जो बाद में परिष्कृत और संशोधित रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। उनके कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं – **गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, चिंतामणि** (चार खंड) और **रस मीमांसा** आदि। इसके अलावा उन्होंने **जायसी ग्रंथावली** एवं **भ्रमरगीत सार** का संपादन किया तथा उनकी लंबी भूमिकाएँ लिखीं।

प्रस्तुत निबंध **क्रोध** 'चिंतामणि भाग-1' से लिया गया है। इसमें शुक्ल जी ने क्रोध के स्वरूप और अन्य मनोविकारों से उसके संबंध का विश्लेषण किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने लोक-कल्याण की दृष्टि से क्रोध की उपयोगिता और सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए उसकी विशिष्ट रचनात्मक भूमिका को रेखांकित किया है।

क्रोध

क्रोध दुख के चेतन कारण से साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन-चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या संबंध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुख मात्र प्रकट कर देता है। दुख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नहीं होता है। दुख के सज्ञान कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करनेवाला मनोविकार होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से परिचित हो जाने पर ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर उसे देखते ही अपने रोने में कुछ क्रोध का आभास देने लगता है।

सामाजिक जीवन में क्रोध की ज़रूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों के द्‌वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो-चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो केवल आह-ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं। उस दुष्ट के हृदय में विवेक, दया आदि उत्पन्न करने में बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामों के लिए नहीं दे सकता। भयभीत होकर प्राणी अपनी रक्षा कभी-कभी कर लेता है, पर समाज में इस प्रकार प्राप्त दुख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि क्रोध के समय क्रोध करनेवाले के मन में सदा भावी कष्ट से बचने का उद्‌देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेतना सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए है।

जिससे एक बार दुख पहुँचा पर उसके दुहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है, जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है; उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप में देखा जाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल

पर चले जा रहे हैं। इसमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जाएगा, क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी, वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा, उसमें स्वरक्षा की भावना भी मिली होगी।

हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म प्रतिकार न कहलाएगा, क्योंकि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ सहने के दुख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जाएगी। इन दोनों दृष्टांतों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुख से उद्विग्न होकर दुखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है, पर एक में वह परिणाम आदि का विचार बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले दृष्टांत का क्रोध उपयोगी नहीं दिखाई पड़ता। पर क्रोध करनेवाले के पक्ष में उसका उपयोग चाहे न हो पर लोक के भीतर, वह बिलकुल खाली नहीं जाता। दुख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुख पहुँचने का डर न सही, पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है फिर समाज के और लोगों के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है। यहाँ पर भी वही बात है कि क्रोध के समय लोगों के मन में लोक-कल्याण की यह व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप में ही होता है।

यहाँ कहा जा चुका है कि क्रोध दुख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है, अतः एक तो जहाँ कार्य-कारण के संबंध-ज्ञान में त्रुटि या भूल होती है, वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध करने वाला जिस ओर से दुख आता है उसी ओर देखता है, अपनी ओर नहीं। जिसने दुख पहुँचाया है उसका नाश हो या उसे दुख पहुँचे, क्रुद्ध का यही लक्ष्य होता है। न तो वह यह देखता है कि मैंने भी कुछ किया है या नहीं, और न इस बात का ध्यान रहता है कि क्रोध के वेग में मैं जो कुछ करूँगा उसका परिणाम क्या होगा। यही क्रोध का अंधापन है। इसी से एक तो मनोविकार ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, ऊपर से बुद्धि या विवेक भी उन पर अंकुश रखता है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि मन में दुखदाता की शक्ति के रूप और परिणाम के

निश्चय, दया-भय आदि और भावों के संचार तथा अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही तो बड़ा अनर्थ खड़ा हो जाता, जैसे यदि कोई सुने कि उसका शत्रु बीस-पचीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार और अपनी रक्षा का पूरा प्रबंध किए उसे मारने के लिए अकेले दौड़ पड़े, तो उसके मारे जाने में बहुत कम संदेह समझा जाएगा। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरांत उसका उद्देश्य अच्छी तरह समझ लेने पर ही आवश्यक मात्रा और उपयुक्त स्थिति में ही क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिए उसका विकास होता है।

क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि या पीड़ा पहुँचाने के पहले आलंबन में भय का संचार करना रहता है। जिस पर क्रोध प्रकट किया जाता है वह यदि डर जाता है और नम्र होकर पश्चाताप करता है तो क्षमा का अवसर सामने आता है। क्रोध का गर्जन-तर्जन क्रोधपात्र के लिए भावी दुष्परिणाम की सूचना है, जिससे कभी-कभी उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और दुष्परिणाम की नौबत नहीं आती। एक की उग्र आकृति देख दूसरा किसी अनिष्ट व्यापार से विरत हो जाता है या नम्र होकर पूर्वकृत दुर्व्यवहार के लिए क्षमा चाहता है। बहुत से स्थलों पर क्रोध का लक्ष्य किसी का गर्व चूर्ण करना मात्र रहता है अर्थात दुख का विषय केवल दूसरे का गर्व या अहंकार होता है। अभिमान दूसरों के मन में या उसकी भावना में बाधा डालता है, उससे वह बहुत से लोगों को यों ही खटका करता है। लोग जिस तरह हो सके — अपराध द्वारा, हानि द्वारा — अभिमानी को नम्र करना चाहते हैं। अभिमान पर जो रोष होता है उसकी प्रवृत्ति अभिमानी को केवल नम्र करने की रहती है। उसको हानि या पीड़ा पहुँचाने का उद्देश्य नहीं रहता। संसार में बहुत से अभिमान का उपचार अपमान द्वारा ही हो जाता है।

कभी-कभी लोग अपने कुटुंबियों या स्नेहियों से झगड़कर क्रोध में अपना ही सिर पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता, क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में अपना ही सिर पटकते या अंग-भंग करते देखें तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवाह है अर्थात जिसे उसका सिर फटने से उस समय नहीं तो आगे चलकर दुख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी मनुष्य यह भी विचार नहीं करता कि जिसने दुख पहुँचाया उसमें दुख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य अपना विवाह करने जा रहा था। मार्ग के कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गए। जब आग न जली तब उस पर क्रोध कर चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किए आगे नहीं बढ़ते। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है, तो वह अंतःप्रकृति में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती-जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला है, इसी से अवसर पड़ने पर वह और मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थकष्ट में होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस अबला के दुख का कारण मूर्तिमान तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक रोकने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है। लोग यही कहते हैं कि "उसने दया करके बचा लिया।" यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया।" ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित नहीं करती।

क्रोध शांति-भंग करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है। जिसके प्रति क्रोध-प्रदर्शन होता है वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुख पर भी उसकी त्योरी चढ़ जाती है। यह विचार करनेवाले बहुत थोड़े

निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, वह उचित है या अनुचित। इसी से धर्म, नीति और शिष्टाचार तीनों में क्रोध के निरोध का उपदेश पाया जाता है। संत लोग तो खलों के वचन सहते ही हैं, दुनियादार लोग भी न जाने कितनी ऊँची-नीची पचाते रहते हैं। सभ्यता के व्यवहार में भी क्रोध नहीं तो क्रोध के चिह्न दबाए जाते हैं। इस प्रकार का प्रतिबंध समाज की सुख-शांति के लिए बहुत आवश्यक है। पर इस प्रतिबंध की भी सीमा है। यह पर-पीड़कोन्मुख क्रोध तक नहीं पहुँचता।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है, जिसे बातों में फँसाकर ठगना रहता है, उसकी कठोर और अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग ज़रा भी क्रोध नहीं करते, पर उसका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुख हो सकते हैं — अपना दुख और पराया दुख। जिस क्रोध के त्याग का उपदेश दिया जाता है वह पहले प्रकार के दुख से उत्पन्न क्रोध है। दूसरे के दुख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक दुख जितना ही अपने संपर्क से दूर होगा, उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुंदर और मनोहर दिखाई देगा। दुख से आगे बढ़ने पर भी कुछ दूर तक क्रोध का कारण थोड़ा-बहुत अपना ही दुख कहा जा सकता है — जैसे, अपने या आत्मीय परिजन का दुख, इष्ट-मित्र का दुख। इसके आगे भी जहाँ तक दुख की भावना के साथ कुछ ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है वह हमारे ग्राम, पुर, देश का रहनेवाला है, वहाँ तक हमारे क्रोध से सौंदर्य की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी वहीं सच्ची पर-दुख कातरता मानी जाएगी, वहीं क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौंदर्य प्राप्त होगा — ऐसा सौंदर्य जो काव्यक्षेत्र के बीच भी जगमगाता है।

यह क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने आता है। स्वामी से सेवक कुछ कठिन होते ही हैं, उनमें कुछ अधिक कठोरता रहती है। पर यह कठोरता ऐसी कठोरता को भंग करने के लिए होती है जो पिघलनेवाली नहीं होती। क्रौंच के वध पर

वाल्मीकि मुनि के करुण क्रोध का सौंदर्य एक महाकाव्य का सौंदर्य हुआ। उक्त सौंदर्य का कारण है निर्विशेषता। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणिमात्र के दुख की सहानुभूति छिपी है — राम के क्रोध के भीतर संपूर्ण लोक के दुख का क्षोभ समाया हुआ है। क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है, वहीं से क्रोध के सौंदर्य का आरंभ होता है। शिशुपाल की बहुत सी बुराइयों तक जब श्रीकृष्ण की क्षमा पहुँच चुकी तब जाकर उसका लौकिक लावण्य फीका पड़ने लगा और क्रोध की समीचीनता का सूत्रपात हुआ। अपने ही दुख पर उत्पन्न क्रोध तो प्रायः समीचीनता ही तक रह जाता है, सौंदर्य-दशा तक नहीं पहुँचता। दूसरे के दुख पर उत्पन्न क्रोध में या तो हमें तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नहीं रहता अथवा वह अपना प्रभाव खो चुकी रहती है।

बहुत दूर तक और बहुत काल से पीड़ा पहुँचाते चले जाते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इनके आगे क्षमा न दिखाई देगी — नैराश्य, कायरता और शिथिलता ही छाई दिखाई पड़ेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पड़ेगी, उसके सौंदर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि-सदृश क्रोध ऐसा ही है। यह सात्विक तेज है, तामस ताप नहीं।

दंड कोप का ही एक विधान है। राजदंड राजकोप है, जहाँ कोप लोककोप और लोककोप धर्मकोप है। जहाँ राजकोप धर्मकोप से एकदम भिन्न दिखाई पड़े, वहाँ उसे राजकोप न समझ कर कुछ विशेष मनुष्यों का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का अधिकारी नहीं हो सकता। उसका सम्मान जनता अपने लिए आवश्यक नहीं समझ सकती।

बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुख पहुँचा है उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह बैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध का वेग और उग्रता तो धीमी पड़ जाती है, पर लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक हुआ करती है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय प्रायः नहीं देता। पर बैर उसके लिए बहुत समय देता है। सच पूछिए तो क्रोध और बैर का भेद केवल कालकृत है। दुख पहुँचाने के साथ ही दुखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करनेवाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करनेवाला भाव बैर है।

किसी ने आपको गाली दी। यदि आपने उस समय उसे मार दिया तो आपने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद आपको कहीं मिला। अब यदि आपने उससे बिना फिर गाली सुने, मिलने के साथ ही उसे मार दिया तो यह आपका बैर निकालना हुआ। विवरण से स्पष्ट है कि बैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से बैर नहीं मानते। चूहे और बिल्ली के संबंध का 'बैर' नाम आलंकारिक है। आदमी का न आम-अंगूर से कुछ बैर है न भेड़-बकरे से। पशु और बच्चे दोनों क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं।

क्रोध का एक हल्का रूप है चिड़चिड़ाहट, जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों ही तक रहती है। इसका कारण भी वैसा उग्र नहीं होता। कभी-कभी चित्त व्यग्र रहने, प्रवृत्ति में बाधा पड़ने या किसी बात का ठीक सुभीता न बैठने के कारण ही लोग चिड़चिड़ा उठते हैं। ऐसे सामान्य कारणों के अवसर बहुत अधिक आते रहते हैं। इससे चिड़चिड़ाहट स्वभावगत होने की संभावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, संप्रदाय या संस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखनेवाले बाहर की दुनिया देख-देखकर अपने जीवन भर चिड़चिड़ाते चले जाते हैं। जिधर निकलते हैं, रास्ते भर मुँह बिगड़ा रहता है। चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसी से रोगियों और बुड्ढों में अधिक पायी जाती है। इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने से यह बहुतों के — विशेषतः बालकों के — विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है। बालकों को चिड़चिड़े बुड्ढों को चिढ़ाने में बहुत आनंद आता है और कुछ विनोदी बुड्ढे भी चिढ़ने की नकल किया करते हैं। कोई 'राधाकृष्ण' कहने से, कोई 'सीताराम' पुकारने से और कोई 'करेले' का नाम लेने से चिढ़ता है और अपने पीछे लड़कों की एक खासी भीड़ लगाए फिरता है। जिस प्रकार लोगों को हँसाने के लिए कुछ लोग मूर्ख या बेवकूफ़ बनते हैं उसी प्रकार चिड़चिड़े भी। मूर्खता मूर्ख को चाहे रुलाए पर दुनिया को तो हँसाती ही है। मूर्ख हास्यरस के बड़े प्राचीन आलंबन हैं। न जाने कब से इस संसार की रुखाई के बीच हास का विकास करते चले आ रहे हैं। आज भी दुनिया को हँसाने का हौसला बहुत कुछ उन्हीं की बरकत से हुआ करता है।

किसी बात का बुरा लगना, उसकी असह्यता का क्षोभयुक्त और आवेगपूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है। पूर्ण क्रोध की अवस्था में मनुष्य दुख पहुँचानेवाले पात्र की ओर

ही उन्मुख रहता है — उसी को भयभीत या पीड़ित करने की चेष्टा में प्रवृत्त रहता है। अमर्ष में दुख पहुँचाने वाली बात के ब्योरों पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है। इसकी ठीक व्यंजना ऐसे वाक्यों में समझनी चाहिए — "तुमने मेरे साथ यह किया। अब तक तो मैं सहता आया, अब नहीं सह सकता।" इसके आगे बढ़कर जब कोई दाँत पीसता और गरजता हुआ यह कहने लगे कि "मैं तुम्हें धूल में मिला दूँगा, तुम्हारा घर खोदकर फेंक दूँगा" तब क्रोध का पूर्ण स्वरूप समझना चाहिए।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. लेखक के अनुसार क्रोध का जनक है —
   (क) अकारण कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति
   (ख) मानव की अपनी प्रकृति
   (ग) दुख का अनुमानित कारण
   (घ) भविष्य में पीड़ित होने का भय
2. किस प्रकार के क्रोध को त्याज्य समझा जाता है?
3. क्रोध समाज में लोगों के बचाव का कारण किस प्रकार है?
4. क्रोध को अंधा क्यों कहा गया है?
5. अभिमानी पर रोष क्यों किया जाता है?
6. दया की अपनी शक्ति कहाँ तक सीमित होती है?
7. बैर करना किन प्राणियों के लिए संभव है?

लिखित

1. सामाजिक जीवन में क्रोध की आवश्यकता क्यों पड़ती है?
2. व्यक्ति किस स्थिति में शुद्ध प्रतिकार करता है? — लेखक ने किन दृष्टांतों द्वारा इस धारणा को स्पष्ट किया है?
3. क्रोध और दुख का परस्पर क्या संबंध है?
4. क्रोध का अपरिष्कृत रूप क्या है? लेखक ने इसे स्पष्ट करने के लिए क्या उदाहरण दिए हैं?
5. किसी के अर्थकष्ट के कारण उस पर दया करने और अत्याचार पीड़ित के बचाव के लिए दया करने में क्या अंतर है?

6. क्रोध पर प्रतिबंध क्यों आवश्यक है? यह प्रतिबंध किस स्थिति में व्यर्थ हो जाता है?
7. क्रोध कब सौंदर्य दशा को प्राप्त कर लेता है?
8. वाल्मीकि का क्रोध राम और कृष्ण के क्रोध से किस प्रकार अभिन्न है?
9. लेखक ने क्रोध और बैर के अंतर को काल सापेक्ष क्यों माना है?
10. चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता क्यों है?
11. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
    (क) क्रोध दुख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है, अतः एक ओर तो जहाँ कार्य-कारण के संबंध-ज्ञान में त्रुटि या भूल होती है, वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध करने वाला जिस ओर से दुख आता है उसी ओर देखता है, अपनी ओर नहीं।
    (ख) बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

योग्यता-विस्तार

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की पुस्तक **चिंतामणि भाग-1** में 'करुणा' विषय पर लिखित निबंध पढ़िए और कक्षा में चर्चा कीजिए।
2. उन घटनाओं का संकलन कीजिए जब आपने किसी के प्रति हो रहे अन्याय का प्रतिकार किया हो।

शब्दार्थ और टिप्पणी

परिज्ञान	-	पूर्ण जानकारी
आविर्भाव	-	जन्म, उत्पत्ति, प्रकट होना
चिर-निवृत्ति	-	पूर्ण छुटकारा, स्थायी रूप से मुक्ति
प्रतिकार	-	बैर निकालना, बदला चुकाना
परिमित	-	सीमित
आलंबन	-	आधार, आश्रय
पर-पीड़कोन्मुख	-	दूसरों को पीड़ा पहुँचाने को तत्पर
कुश	-	एक प्रकार की पैनी घास
विरत	-	उदासीन
अपरिष्कृत	-	अपरिपक्व
अंतःप्रकृति	-	मूल स्वभाव
अर्थ कष्ट	-	धन का अभाव
अर्थ-परायण	-	धन के प्रति आसक्ति रखने वाला

धज	–	तड़क-भड़क
निर्विशेष	–	साधारण या सामान्य
परदुख कातरता	–	दूसरे के दुख में दुखी होना
श्रीहत	–	शोभाहीन, कांतिहीन
लावण्य	–	सौंदर्य
कालाग्निसदृश्य	–	काल रूपी अग्नि के समान, प्रचंड
तामस ताप	–	क्रोध से उत्पन्न मानसिक व्यथा
कालकृत	–	काल द्वारा पैदा किया हुआ
अमर्ष	–	क्रोध, असहनशीलता

3 प्रेमचंद
(1880-1936)

प्रेमचंद का जन्म वाराणसी ज़िले के लमही ग्राम में हुआ था। उनका मूल नाम धनपतराय था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा वाराणसी में हुई। मैट्रिक के बाद वे अध्यापन करने लगे। स्वयंपाठी के रूप में ही उन्होंने बी.ए. तक शिक्षा ग्रहण की। असहयोग आंदोलन के दौरान उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पूरी तरह लेखन-कार्य के प्रति समर्पित हो गए।

*प्रेमचंद ने अपने लेखन की शुरुआत पहले उर्दू में नवाबराय के नाम से की। बाद में हिंदी में लिखने लगे। उनकी पहली कहानी सन 1915 में **सरस्वती** में प्रकाशित हुई।*

प्रेमचंद हिंदी के अन्यतम कलाकार हैं, जिन्होंने अपने साहित्य में किसानों, दलितों, नारियों की वेदना और वर्ण-व्यवस्था की कुरीतियों का मार्मिक चित्रण किया है। वे साहित्य को स्वांतः सुखाय न मानकर सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त साधन मानते थे। वे एक ऐसे साहित्यकार थे जो समाज की वास्तविक स्थिति को गहरी दृष्टि से देखने की शक्ति रखते थे। उन्होंने समाज-सुधार और राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत अनेक उपन्यासों एवं कहानियों की रचना की। कथा-संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि से उनकी रचनाएँ बेजोड़ हैं। उनकी भाषा बहुत सजीव, मुहावरेदार और बोलचाल के निकट है, जिसमें उर्दू की स्वच्छता, गति और मुहावरों के साथ संस्कृत की भावमयी पदावली का सुंदर प्रयोग है। हिंदी भाषा को लोकप्रिय बनाने में उनका विशेष योगदान है।

*उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं — **मानसरोवर** (आठ भाग); **गुप्तधन** (दो भाग) (कहानी संग्रह); **निर्मला, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, गबन, गोदान** (उपन्यास); **कर्बला, संग्राम, प्रेम की वेदी** (नाटक); **विविध प्रसंग** (साहित्यिक और राजनीतिक निबंधों का संग्रह); **कुछ विचार** (साहित्यिक निबंध)। उन्होंने **माधुरी, हंस, मर्यादा** और **जागरण** पत्रिकाओं का संपादन भी किया।*

***मंत्र** कहानी में प्रेमचंद ने दो परस्पर विरोधी स्वभाव के व्यक्तियों को प्रस्तुत किया है। एक ओर डॉ. चड्ढा हैं जो एक बूढ़े किसान (भगत) के बीमार बेटे के इलाज की अपेक्षा*

अपने व्यक्तिगत सुख को अधिक महत्त्व देते हैं तो दूसरी ओर वही बूढ़ा किसान डॉ. चड्ढा के मरणासन्न बेटे को बचाने के लिए अंधेरी रात में उनके घर चला जाता है। वह अपने आचरण की सभ्यता से डॉ. चड्ढा को पद तथा प्रतिष्ठा के अहंकार से मुक्ति और मानवीयता के जागरण की प्रेरणा देता है।

मंत्र

संध्या का समय था। डॉक्टर चड्ढा गोल्फ खेलने के लिए तैयार हो रहे थे। मोटर द्वार के सामने खड़ी थी कि दो कहार एक डोली लिए आते दिखाई दिए। डोली के पीछे एक बूढ़ा लाठी टेकता चला आता था। डोली औषधालय के सामने आकर रुक गई। बूढ़े ने धीरे-धीरे आकर द्वार पर पड़ी हुई चिक से झाँका। ऐसी साफ़-सुथरी ज़मीन पर पैर रखते हुए भय हो रहा था कि कोई घुड़क न बैठे। डॉक्टर साहब को सामने देखकर भी उसे कुछ कहने का साहस न हुआ।

डॉक्टर साहब ने चिक के अंदर से गरज कर कहा — "कौन है? क्या चाहता है?"

बूढ़े ने हाथ जोड़कर कहा — "हुजूर, बड़ा गरीब आदमी हूँ। मेरा लड़का कई दिन से..."

डॉक्टर साहब ने सिगार जलाकर कहा — "कल सवेरे आओ, कल सवेरे, हम इस वक्त मरीज़ों को नहीं देखते।"

बूढ़े ने घुटने टेककर ज़मीन पर सिर रख दिया और बोला — "दुहाई है सरकार की, लड़का मर जाएगा! हुजूर, चार दिन से आँखें नहीं..."

डॉक्टर चड्ढा ने कलाई पर नज़र डाली। केवल दस मिनट समय और बाकी था। गोल्फ-स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले — "कल सवेरे आओ, कल सवेरे, यह हमारे खेलने का समय है।"

बूढ़े ने पगड़ी उतारकर चौखट पर रख दी और रोकर बोला — "हुजूर, एक निगाह देख लें। बस, एक निगाह! लड़का हाथ से चला जाएगा। हुजूर, सात लड़कों में यही बच रहा है, हुजूर। हम दोनों आदमी रो-रो कर मर जाएँगे, सरकार! आपकी बढ़ती होय, दीनबंधु!"

ऐसे उजड्ड देहाती यहाँ प्रायः रोज़ आया करते थे। डॉक्टर साहब उनके स्वभाव से खूब परिचित थे। कोई कितना ही कुछ कहे, पर वे अपनी ही रट लगाते जाएँगे। किसी

की सुनेंगे नहीं। धीरे से चिक उठाई और बाहर निकलकर मोटर की तरफ़ चले। बूढ़ा यह कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा — "सरकार, बड़ा धरम होगा। हुजूर, दया कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ, संसार में कोई और नहीं है, बाबूजी!"

मगर डॉक्टर साहब ने उसकी ओर मुँह फेरकर देखा तक नहीं। मोटर पर बैठकर बोले — "कल सवेरे आना।"

मोटर चली गई। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवाह नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने ज़माने के जीवों में था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कंधा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शांत करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढ़े को मोटर दिखाई दी, वह खड़ा टकटकी लगाए उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डॉक्टर साहब के लौट आने की आशा थी। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा। डोली जिधर से आई थी, उधर ही चली गई। चारों ओर से निराश होकर वह डॉक्टर चड्ढा के पास आया था। इनकी बड़ी तारीफ़ सुनी थी। यहाँ से निराश होकर फिर वह किसी दूसरे डॉक्टर के पास न गया। किस्मत ठोक ली!

उसी रात को उसका हँसता-खेलता सात साल का बालक अपनी बाल-लीला समाप्त करके इस संसार से सिधार गया। बूढ़े माँ-बाप के जीवन का यही एक आधार था। इसी का मुँह देखकर जीते थे। इस दीपक के बुझते ही जीवन की अँधेरी रात भाँय-भाँय करने लगी। बुढ़ापे की विशाल ममता टूटे हुए हृदय से निकलकर अंधकार में आर्त-स्वर से रोने लगी।

कई साल गुज़र गए। डॉक्टर चड्ढा ने खूब यश और धन कमाया, लेकिन इसके साथ ही अपने स्वास्थ्य की रक्षा भी की, जो एक असाधारण बात थी। यह उनके नियमित जीवन का आशीर्वाद था कि 50 वर्ष की अवस्था में उनकी चुस्ती और फुरती युवकों को भी लज्जित करती थी। उनके हर एक काम का समय नियत था, इस नियम से वह जौ-भर भी न टलते थे। बहुधा लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन उस समय करते हैं, जब रोगी हो जाते हैं। डॉक्टर चड्ढा उपचार और संयम का रहस्य खूब समझते थे। उनकी संतान-संख्या भी इसी नियम के अधीन थी। उनके केवल दो बच्चे हुए, एक लड़का और

एक लड़की। तीसरी संतान न हुई, इसीलिए श्रीमती चड्ढा अभी भी जवान मालूम होती थीं। लड़की का तो विवाह हो चुका था। लड़का कैलाशनाथ, कॉलेज में पढ़ता था। वही माता-पिता के जीवन का आधार था। शील और विनय का पुतला, बड़ा ही रसिक, बड़ा ही उदार, कॉलेज का गौरव, युवक-समाज की शोभा। मुखमंडल से तेज की छटा-सी निकलती थी। आज उसकी बीसवीं सालगिरह थी।

संध्या का समय था। हरी-हरी घास पर कुरसियाँ बिछी हुई थीं। शहर के रईस और हुक्काम एक तरफ़, कॉलेज के छात्र दूसरी तरफ़ बैठे भोजन कर रहे थे। बिजली के प्रकाश से सारा मैदान जगमगा रहा था। आमोद-प्रमोद का सामान भी जमा था। छोटा-सा प्रहसन खेलने की तैयारी थी। प्रहसन स्वयं कैलाशनाथ ने लिखा था। वही मुख्य ऐक्टर भी था। इस समय वह एक रेशमी कमीज़ पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव, इधर से उधर मित्रों की आवभगत में लगा हुआ था। कोई पुकारता, "कैलाश ज़रा इधर आना", कोई उधर से बुलाता — "कैलाश, क्या उधर ही रहोगे?" सभी उसे छेड़ते थे, चुहलें करते थे, बेचारे को ज़रा दम मारने का अवकाश न मिलता था। सहसा एक रमणी ने उसके पास आकर कहा — "क्यों कैलाश, तुम्हारे साँप कहाँ हैं? ज़रा मुझे दिखा दो।"

कैलाश ने उससे हाथ मिलाकर कहा — "मृणालिनी, इस वक्त क्षमा करो, कल दिखा दूँगा।"

मृणालिनी ने आग्रह किया — "जी नहीं, तुम्हें दिखाना पड़ेगा, मैं आज नहीं मानने की। तुम रोज़ 'कल-कल' करते हो।"

मृणालिनी और कैलाश दोनों सहपाठी थे और एक-दूसरे के प्रेम में पगे हुए। कैलाश को साँपों के पालने, खेलाने और नचाने का शौक था। तरह-तरह के साँप पाल रखे थे। उनके स्वभाव और चरित्र की परीक्षा करता रहता था। थोड़े दिन हुए, उसने कॉलेज में 'साँपों' पर एक मार्के का व्याख्यान दिया था। साँपों को नचाकर दिखाया भी था! प्राणिशास्त्र के बड़े-बड़े पंडित भी यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गए थे! यह विद्या उसने एक बड़े सपेरे से सीखी थी । साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मर्ज़ था। इतना पता भर मिल जाए कि किसी व्यक्ति के पास कोई अच्छी जड़ी है, फिर उसे चैन न आता। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इसपर हज़ारों रुपए फूँक चुका था। मृणालिनी कई बार आ चुकी थी, पर कभी साँपों को देखने के लिए इतनी उत्सुक न हुई थी। कह नहीं सकते, आज उसकी उत्सुकता सचमुच जाग गई थी, या वह कैलाश

पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करना चाहती थी, पर उसका आग्रह बेमौका था। उस कोठरी में कितनी भीड़ लग जाएगी, भीड़ को देखकर साँप कितने चौंकेंगे और रात के समय उन्हें छेड़ा जाना कितना बुरा लगेगा, इन बातों का उसे ज़रा भी ध्यान न आया।

कैलाश ने कहा —"नहीं, कल ज़रूर दिखा दूँगा। इस वक्त अच्छी तरह दिखा भी तो न सकूँगा, कमरे में तिल रखने को भी जगह न मिलेगी।"

एक महाशय ने छेड़कर कहा —"दिखा क्यों नहीं देते, ज़रा-सी बात के लिए इतना टाल-मटोल कर रहे हो? मिस गोविंद, हर्गिज़ न मानना। देखें कैसे नहीं दिखाते।"

दूसरे महाशय ने और रद्दा चढ़ाया — "मिस गोविंद इतनी सीधी और भोली हैं, तभी आप इतना मिज़ाज करते हैं, दूसरी सुंदरी होती, तो इसी बात पर बिगड़ खड़ी होती।"

तीसरे साहब ने मज़ाक उड़ाया —"अजी बोलना छोड़ देती। भला, कोई बात है! इस पर आपका दावा हैं कि मृणालिनी के लिए जान हाज़िर है।"

मृणालिनी ने देखा कि ये शोहदे उस पर रंग चढ़ा रहे हैं, तो बोली — "आप लोग मेरी वकालत न करें, मैं खुद अपनी वकालत कर लूँगी। मैं इस वक्त साँपों का तमाशा नहीं देखना चाहती। चलो, छुट्टी हुई।"

इस पर मित्रों ने ठट्ठा लगाया। एक साहब बोले — "देखना तो आप सब कुछ चाहें, पर कोई दिखाए भी तो?"

कैलाश को मृणालिनी की झेंपी हुई सूरत देखकर मालूम हुआ कि इस वक्त उसका इनकार वास्तव में उसे बुरा लगा है। ज्यों ही प्रीतिभोज समाप्त हुआ और गाना शुरू हुआ, उसने मृणालिनी और अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के सामने ले जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक खाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह! क्या कमाल था। ऐसा जान पड़ता था कि ये कीड़े उसकी एक-एक बात, उसके मन का एक-एक भाव समझते हैं। किसी को उठा लिया, किसी को गरदन में डाल लिया, किसी को हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गरदन में न डालो, दूर ही से दिखा दो। बस, ज़रा नचा दो। कैलाश की गरदन में साँपों को लिपटते देखकर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैंने व्यर्थ ही इनसे साँप दिखाने को कहा, मगर कैलाश एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपने सर्प-कला-प्रदर्शन का ऐसा अवसर पाकर वह कब चूकता! एक मित्र ने टीका की — "दाँत तोड़ डाले होंगे।"

कैलाश हँसकर बोला — "दाँत तोड़ डालना मदारियों का काम है। किसी के दाँत नहीं तोड़े गए। कहिए तो दिखा दूँ?" कहकर उसने एक काले साँप को पकड़ लिया और बोला — "मेरे पास इससे बड़ा और ज़हरीला साँप दूसरा नहीं है, अगर किसी को काट ले, तो आदमी आनन-फानन में मर जाए। लहर भी न आए। इसके काटे का मंत्र नहीं। इसके दाँत दिखा दूँ?"

मृणालिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा — "नहीं-नहीं, कैलाश, ईश्वर के लिए इसे छोड़ दो। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।"

कैलाश ने साँप की गरदन पकड़कर कहा — "नहीं साहब, आप आँखों से देखकर मानिए। दाँत तोड़कर वश में किया तो क्या किया!" साँप बड़ा समझदार होता है! अगर उसे विश्वास हो जाए कि इस आदमी से मुझे कोई हानि न पहुँचेगी, तो वह उसे हरगिज़ न काटेगा।

मृणालिनी ने जब देखा कि कैलाश पर इस वक्त भूत सवार है, तो उसने यह तमाशा न करने के विचार से कहा — "अच्छा भाई, अब यहाँ से चलो। देखो गाना शुरू हो गया है। आज मैं भी कोई चीज़ सुनाऊँगी।" यह कहते हुए उसने कैलाश का कंधा पकड़कर चलने का इशारा किया और कमरे से निकल गई, मगर कैलाश विरोधियों की शंका का समाधान करके ही दम लेना चाहता था। उसने साँप की गरदन पकड़ कर ज़ोर से दबाई, इतनी ज़ोर से कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी नसें तन गईं। साँप ने अब तक उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ में न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं। उसे शायद भ्रम हुआ कि मुझे मार डालना चाहते हैं, अतएव वह आत्मरक्षा के लिए तैयार हो गया।

कैलाश ने उसकी गर्दन खूब दबाकर मुँह खोल दिया और उसके ज़हरीले दाँत दिखाते हुए बोला — "जिन सज्जनों को शक हो, आकर देख लें। आया विश्वास या अब भी कुछ शक है?" मित्रों ने आकर उसके दाँत देखे और चकित हो गए। प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने संदेह को स्थान कहाँ। मित्रों का शंका-निवारण करके कैलाश ने साँप की गरदन ढीली कर दी और उसे ज़मीन पर रखना चाहा, पर वह काला गेहुँवन क्रोध से पागल हो रहा था। गरदन नरम पड़ते ही उसने सिर उठाकर कैलाश की उँगली में ज़ोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलाश की उँगली से टप-टप खून टपकने लगा। उसने ज़ोर से उँगली दबा ली और अपने कमरे की तरफ़ दौड़ा। वहाँ मेज़ की दराज़ में एक जड़ी

रखी हुई थी, जिसे पीसकर लगा देने से घातक विष भी रफ़ू हो जाता था। मित्रों में हलचल पड़ गई। बाहर महफ़िल में भी खबर हुई। डॉक्टर साहब घबराकर दौड़े। फ़ौरन उँगली की जड़ कसकर बाँधी गई और जड़ी पीसने के लिए दी गई। डॉक्टर साहब जड़ी के कायल न थे। वह उँगली का डसा भाग नश्तर से काट देना चाहते थे, मगर कैलाश को जड़ी पर पूर्ण विश्वास था। मृणालिनी प्यानो पर बैठी हुई थी। यह खबर सुनते ही दौड़ी, और कैलाश की उँगली से टपकते हुए खून को रूमाल से पोंछने लगी। जड़ी पीसी जाने लगी, पर उसी एक मिनट में कैलाश की आँखें झपकने लगीं, होंठों पर पीलापन दौड़ने लगा। यहाँ तक कि वह खड़ा न रह सका। फर्श पर बैठ गया। सारे मेहमान कमरे में जमा हो गए। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। इतने में जड़ी पीसकर आ गई। मृणालिनी ने उँगली पर लेप किया। एक मिनट और बीता। कैलाश की आँखें बंद हो गईं। वह लेट गया और हाथ से पंखा झलने का इशारा किया। माँ ने दौड़कर उसका सिर गोद में रख लिया और बिजली का टेबुलफैन लगा दिया।

डॉक्टर साहब ने झुककर पूछा — "कैलाश, कैसी तबीयत है?" कैलाश ने धीरे से हाथ उठा दिया, पर कुछ बोल न सका। मृणालिनी ने करुण स्वर में कहा — "क्या जड़ी कुछ असर न करेगी?" डॉक्टर साहब ने सिर पकड़कर कहा — "क्या बताऊँ, मैं इसकी बातों में आ गया। अब तो नश्तर से भी कुछ फ़ायदा न होगा।"

आधे घंटे तक यही हाल रहा। कैलाश की दशा प्रतिक्षण बिगड़ती जाती थी। यहाँ तक कि उसकी आँखें पथरा गईं, हाथ-पाँव ठंडे हो गए, मुख की कांति मलिन पड़ गई, नाड़ी का कहीं पता नहीं। मौत के सारे लक्षण दिखाई देने लगे। घर में कुहराम मच गया। मृणालिनी एक ओर सिर पीटने लगी, माँ अलग पछाड़ें खाने लगी। डॉक्टर चड्ढा को मित्रों ने पकड़ लिया, नहीं तो वह नश्तर अपनी गरदन पर मार लेते।

एक महाशय बोले — "कोई मंत्र झाड़नेवाला मिले, तो संभव है, अब भी जान बच जाए।"

डॉक्टर बोले — "मेरी अक्ल पर पत्थर पड़ गया था कि इसकी बातों में आ गया। नश्तर लगा देता, तो यह नौबत ही क्यों आती। बार-बार समझाता रहा कि बेटा, साँप न पालो, मगर कौन सुनता था! बुलाइए, किसी झाड़-फूँक करनेवाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले ले, मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरों पर रख दूँगा। लँगोटी बाँधकर

घर से निकल जाऊँगा, मगर मेरा कैलाश, मेरा प्यारा कैलाश उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसी को बुलवाइए।"

एक महाशय का किसी झाड़नेवाले से परिचय था। वह दौड़कर उसे बुला लाए, मगर कैलाश की सूरत देखकर उसे मंत्र चलाने की हिम्मत न पड़ी। बोला — "अब क्या हो सकता है, सरकार? जो कुछ होना था, हो चुका!"

अरे मूर्ख, यह क्यों नहीं कहता कि जो कुछ न होना था, हो चुका! जो कुछ होना था, वह कहाँ हुआ? माँ-बाप ने बेटे का सेहरा कहाँ देखा? मृणालिनी का कामना-तरु क्या पल्लव और पुष्प से रंजित हो उठा? मन के वह स्वर्ण-स्वप्न जिनसे जीवन आनंद का स्रोत बना हुआ था, क्या पूरे हो गए? जीवन के नृत्यमय तारिका-मंडित सागर में आमोद की बहार लूटते हुए क्या उनकी नौका जलमग्न नहीं हो गई? जो न होना था, वह हो गया।

वही हरा-भरा मैदान था, वही सुनहरी चाँदनी एक निःशब्द संगीत की भाँति प्रकृति पर छाई हुई थी, वही मित्र-समाज था, वही मनोरंजन के सामान थे। मगर जहाँ हास्य की ध्वनि थी, वहाँ करुण क्रंदन और अश्रु-प्रवाह था।

शहर से कई मील दूर एक छोटे-से घर में एक बूढ़ा और बुढ़िया अँगीठी के सामने बैठे जाड़े की रात काट रहे थे। बूढ़ा नारियल पीता था और बीच-बीच में खाँसता था। बुढ़िया दोनों घुटनियों में सिर डाले आग की ओर ताक रही थी। एक मिट्टी के तेल की कुप्पी ताक पर जल रही थी। घर में न चारपाई थी, न बिछौना। एक किनारे थोड़ी-सी पुआल पड़ी हुई थी। इसी कोठरी में एक चूल्हा था। बुढ़िया दिन-भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी। बूढ़ा रस्सी बटकर बाज़ार में बेच आता। यही उनकी जीविका थी। उन्हें न किसी ने रोते देखा,न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फुरसत! बुढ़िया ने पूछा — "कल के लिए सन तो है नहीं, काम क्या करोगे?"

"जाकर झगड़ू साह से दस सेर सन उधार लाऊँगा।"

"उसके पहले के पैसे तो दिए ही नहीं, और उधार कैसे देगा?"

"न देगा न सही। घास तो कहीं नहीं गई है। दोपहर तक क्या दो आने की भी न काटूँगा?"

इतने में एक आदमी ने द्वार पर आवाज़ दी — "भगत, भगत, क्या सो गए? ज़रा किवाड़ खोलो।"

भगत ने उठकर किवाड़ खोल दिए। एक आदमी ने अंदर आकर कहा — "कुछ सुना, डॉक्टर चड्ढा बाबू के लड़के को साँप ने काट लिया। भगत ने चौंककर कहा — "चड्ढा बाबू के लड़के को! वही चड्ढा बाबू हैं न, जो छावनी में बँगले में रहते हैं?"

"हाँ-हाँ वही, शहर में हल्ला मचा हुआ है। जाते हो तो जाओ, आदमी बन जाओगे।" बूढ़े ने कठोर भाव से सिर हिलाकर कहा — "मैं नहीं जाता! मेरी बला जाए! वही चड्ढा है। खूब जानता हूँ। भैया को लेकर उन्हीं के पास गया था। खेलने जा रहे थे। पैरों पर गिर पड़ा कि एक नज़र देख लीजिए, मगर सीधे मुँह बात तक न की। भगवान बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का गम कैसा होता है। कई लड़के हैं?"

"नहीं जी, यही तो एक लड़का था। सुना है, सबने जवाब दे दिया है।"

"भगवान बड़ा कारसाज है। उस बखत मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े, पर उन्हें तनिक भी दया न आई थी। मैं तो उसके द्वार पर होता, तो भी बात न पूछता।"

"तो न जाओगे? हमने जो सुना था, सो कह दिया।"

"अच्छा किया — अच्छा किया। कलेजा ठंडा हो गया, आँखें ठंडी हो गईं। लड़का भी ठंडा हो गया होगा! तुम जाओ। आज चैन की नींद सोऊँगा।" (बुढ़िया से) "ज़रा तंबाखू ले ले! एक चिलम और पीऊँगा। अब मालूम होगा लाला को! सारी साहबी निकल जाएगी, हमारा क्या बिगड़ा! लड़के के मर जाने से कुछ राज तो नहीं चला गया? जहाँ छह बच्चे गए थे, वहाँ एक और चला गया, तुम्हारा तो राज सूना हो जाएगा। उसी के वास्ते सबका गला दबा-दबा कर जोड़ा था न! अब क्या करोगे? एक बार देखने जाऊँगा, पर कुछ दिन बाद मिजाज़ का हाल पूछूँगा।"

आदमी चला गया। भगत ने किवाड़ बंद कर लिए, अब चिलम पर तंबाकू रखकर पीने लगा।

बुढ़िया ने कहा — "इतनी रात गए जाड़े-पाले में कौन जाएगा?"

"अरे, दोपहर ही होता तो मैं न जाता। सवारी दरवाज़े पर लेने आती, तो भी न जाता। भूल नहीं गया हूँ। पन्ना की सूरत आज भी आँखों में फिर रही है। इस निर्दयी ने उसे एक नज़र देखा तक नहीं। क्या मैं न जानता था कि वह न बचेगा? खूब जानता था। चड्ढा भगवान नहीं थे कि उनके एक निगाह देख लेने से अमृत बरस जाता। नहीं, खाली मन की दौड़ थी। ज़रा तसल्ली हो जाती। बस, इसीलिए उनके पास गया था। अब किसी दिन

जाऊँगा और कहूँगा — क्यों साहब, कहिए, क्या रंग है? दुनिया बुरा कहेगी, कहे, कोई परवाह नहीं। छोटे आदमियों में सब ऐब होते हैं। बड़ों में कोई ऐब नहीं होता, देवता होते हैं।"

भगत के लिए यह जीवन में पहला अवसर था कि ऐसा समाचार पाकर वह बैठा रह गया हो। 80 वर्ष के जीवन में ऐसा कभी न हुआ था कि साँप की खबर पाकर वह दौड़ न गया हो। माघ-पूस की अँधेरी रात, चैत-बैसाख की धूप और लू, सावन-भादों की चढ़ी हुई नदी और नाले, किसी की उसने कभी परवाह न की। वह तुरंत घर से निकल पड़ता था — निःस्वार्थ, निष्काम! लेन-देन का विचार कभी दिल में आया ही नहीं। यह ऐसा काम ही न था। जान का मूल्य कौन दे सकता है? यह एक पुण्य कार्य था। सैकड़ों निराशों को उसके मंत्रों ने जीवन-दान दे दिया था, पर आज वह घर से कदम नहीं निकाल सका। यह खबर सुनकर सोने जा रहा है।

बुढ़िया ने कहा — "तमाखू अँगीठी के पास रखी हुई है। उसके भी आज ढाई पैसे हो गए। देती ही न थी।"

बुढ़िया यह कहकर लेटी। बूढ़े ने कुप्पी बुझाई, कुछ देर खड़ा रहा, फिर बैठ गया। अंत में लेट गया, पर यह खबर उसके हृदय पर बोझ की भाँति रखी हुई थी। उसे मालूम हो रहा था, उसकी कोई चीज़ खो गई है, जैसे सारे कपड़े गीले हो गए हैं या पैरों में कीचड़ लगा हुआ है, जैसे कोई उसके मन में बैठा हुआ उसे घर से निकालने के लिए कुरेद रहा है। बुढ़िया ज़रा देर में खर्राटे लेने लगी। बूढ़े बातें करते-करते सोते हैं और ज़रा-सा खटका होते ही जागते हैं। तब भगत उठा, अपनी लकड़ी उठा ली, और धीरे से किवाड़ खोले।

बुढ़िया ने पूछा — "कहाँ जाते हो?"

"कहीं नहीं, देखता था कि कितनी रात है।"

"अभी बहुत रात है, सो जाओ।"

"नींद नहीं आती।"

"नींद काहे को आएगी? मन तो चड्ढा के घर पर लगा हुआ है।"

"चड्ढा ने मेरे साथ कौन-सी नेकी कर दी है, जो वहाँ जाऊँ? वह आकर पैरों पड़े, तो भी न जाऊँ।"

"उठे तो तुम इसी इरादे से ही।"

"नहीं री, ऐसा पागल नहीं हूँ कि जो मुझे काँटे बोए उसके लिए फूल बोता फिरूँ।"

बुढ़िया फिर सो गई। भगत ने किवाड़ लगा दिए और फिर आकर बैठा। पर उसके मन की कुछ ऐसी दशा थी, जो बाजे की आवाज़ कान में पड़ते ही उपदेश सुननेवालों की होती है। आँखें चाहे उपदेशक की ओर हों, पर कान बाजे ही की ओर होते हैं। दिल में भी बाजे की ध्वनि गूँजती रहती है। शर्म के मारे जगह से नहीं उठता। निर्दयी प्रतिघात का भाव भगत के लिए उपदेशक था, पर हृदय उस अभागे युवक की ओर था, जो इस समय मर रहा था, जिसके लिए एक-एक पल का विलंब घातक था।

उसने फिर किवाड़ खोले, इतने धीरे से कि बुढ़िया को खबर भी न हुई। बाहर निकल आया। उसी वक्त गाँव का चौकीदार गश्त लगा रहा था, बोला — "कैसे उठे भगत? आज तो बड़ी सरदी है! कहीं जा रहे हो क्या?"

भगत ने कहा — "नहीं जी, जाऊँगा कहाँ ! देखता था, अभी कितनी रात है। भला, कै बजे होंगे?"

चौकीदार बोला — "एक बजा होगा और क्या, अभी थाने से आ रहा था, तो डॉक्टर चड्ढा बाबू के बँगले पर बड़ी भीड़ लगी हुई थी। उनके लड़के का हाल तो तुमने सुना होगा, कीड़े ने छू लिया है। चाहे मर भी गया हो, तुम चले जाओ, तो शायद बच जाए। सुना है, दस हज़ार तक देने को तैयार हैं।"

भगत — "मैं तो न जाऊँ, चाहे वह दस लाख भी दें। मुझे दस हज़ार या दस लाख लेकर क्या करना है? कल मर जाऊँगा, फिर कौन भोगनेवाला बैठा हुआ है।"

चौकीदार चला गया। भगत ने पैर बढ़ाया। जैसे नशे में आदमी की देह अपने काबू में नहीं रहती, पैर कहीं रखता है, पड़ता कहीं है, कहता कुछ है, ज़बान से निकलता कुछ है, वही हाल इस समय भगत का था। मन में प्रतिकार था, पर कर्म मन के अधीन न था। जिसने कभी तलवार नहीं चलाई, वह इरादा करने पर भी तलवार नहीं चला सकता। उसके हाथ काँपते हैं, उठते ही नहीं।

भगत लाठी खट-खट करता लपका चला जाता। चेतना रोकती थी पर उपचेतना ठेलती थी। सेवक स्वामी पर हावी था।

आधी राह निकल जाने के बाद सहसा भगत रुक गया। हिंसा ने क्रिया पर विजय पाई — मैं यों ही इतनी दूर चला आया। इस जाड़े-पाले में मरने की मुझे क्या पड़ी थी? आराम से सोया क्यों नहीं? नींद न आती, न सही, दो-चार भजन ही गाता। व्यर्थ इतनी

दूर दौड़ा आया। चड्ढा का लड़का रहे या मरे, मेरी बला से। मेरे साथ उन्होंने ऐसा कौन-सा सलूक किया था कि मैं उनके लिए मरूँ? दुनिया में हज़ारों मरते हैं, हज़ारों जीते हैं। मुझे किसी के मरने-जीने से मतलब!

मगर उपचेतना ने अब एक दूसरा रूप धारण किया, जो हिंसा से बहुत कुछ मिलता जुलता था — वह झाड़-फूँक करने नहीं जा रहा है, वह देखेगा कि लोग क्या कर रहे हैं। डॉक्टर साहब का रोना-पीटना देखेगा, किस तरह सिर पीटते हैं, किस तरह पछाड़ें खाते हैं! यह देखेगा कि बड़े लोग भी छोटों ही की भाँति रोते हैं, या सबर कर जाते हैं! वे लोग तो विद्वान होते हैं, सबर कर जाते होंगे! हिंसा-भाव को यों धीरज देता हुआ वह फिर आगे बढ़ा।

इतने में दो आदमी आते दिखाई दिए। दोनों बातें करते चले आ रहे थे — चड्ढा बाबू का घर उजड़ गया, वही तो एक लड़का था। भगत के कान में यह आवाज़ पड़ी। उसकी चाल और भी तेज़ हो गई। थकान के मारे पाँव न उठते थे। शिरोभाग इतना बढ़ा जाता था, मानो अब मुँह के बल गिर पड़ेगा। इस तरह वह कोई दस मिनट चला होगा कि डॉक्टर साहब का बँगला नज़र आया। बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं, मगर सन्नाटा छाया हुआ था। रोने-पीटने की आवाज़ भी न आती थी। भगत का कलेजा धक्-धक् करने लगा। कहीं मुझे बहुत देर तो नहीं हो गई? वह दौड़ने लगा। अपनी उम्र में वह इतना तेज़ कभी न दौड़ा था। बस, यही मालूम होता था मानो उसके पीछे मौत दौड़ी आ रही है।

दो बज गए थे। सभी रो-रोकर थक गए थे। बड़ी उत्सुकता के साथ लोग रह-रहकर आकाश की ओर देखते थे कि किसी तरह सुबह हो और लाश गंगा की गोद में दी जाए।

सहसा भगत ने द्वार पर पहुँच कर आवाज़ दी। डॉक्टर साहब समझे कोई मरीज़ आया होगा। किसी और दिन उन्होंने उस आदमी को दुत्कार दिया होता, मगर आज बाहर निकल आए। देखा एक बूढ़ा आदमी खड़ा है — कमर झुकी हुई, पोपला मुँह, भौंहें तक सफ़ेद हो गई थीं। लकड़ी के सहारे काँप रहा था। बड़ी नम्रता से बोले — "क्या है भई, आज तो हमारे ऊपर ऐसी मुसीबत पड़ गई है कि कुछ कहते हुए नहीं बनता, फिर कभी आना। इधर एक महीना तक तो शायद मैं किसी भी मरीज़ को न देख सकूँगा।"

भगत ने कहा — "सुन चुका हूँ बाबू जी, इसीलिए आया हूँ। भैया कहाँ हैं? ज़रा मुझे दिखा दीजिए। भगवान बड़ा कारसाज़ है, मुरदे को भी जिला सकता है। कौन जाने, अब भी उसे दया आ जाए।"

चड्ढा ने व्यथित स्वर से कहा — "चलो, देख लो, मगर तीन-चार घंटे हो गए। जो कुछ होना था, हो चुका। बहुतेरे झाड़ने-फूँकने वाले देख-देखकर चले गए।"

डॉक्टर साहब को आशा तो क्या होती। हाँ, बूढ़े पर दया आ गई। अंदर ले गए। भगत ने लाश को एक मिनट तक देखा। तब मुसकरा कर बोला — "अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, बाबू जी! नारायण चाहेंगे, तो आधे घंटे में भैया उठ बैठेंगे। आप नाहक दिल छोटा कर रहे हैं। ज़रा कहारों से कहिए, पानी तो भरें।"

कहारों ने पानी भर-भर कर कैलाश को नहलाना शुरू किया। पाइप बंद हो गया था। कहारों की संख्या अधिक न थी, इसलिए मेहमानों ने अहाते के बाहर के कुएँ से पानी भर-भर कर कहारों को दिया, मृणालिनी कलसा लिए पानी ला रही थी। बूढ़ा भगत खड़ा मुसकरा-मुसकराकर मंत्र पढ़ रहा था, मानो विजय उसके सामने खड़ी है। जब एक बार मंत्र समाप्त हो जाता, तब वह एक जड़ी कैलाश को सुँघा देता। इस तरह न जाने कितने घड़े कैलाश के सिर पर डाले गए और न जाने कितनी बार भगत ने मंत्र फूँका। आखिर जब उषा ने अपनी लाल-लाल आँखें खोली तो कैलाश की भी लाल-लाल आँखें खुल गईं। एक क्षण में उसने अँगड़ाई ली और पानी पीने को माँगा। डॉक्टर चड्ढा ने दौड़कर नारायणी को गले लगा लिया। नारायणी दौड़कर भगत के पैरों पर गिर पड़ी और मृणालिनी कैलाश के सामने आँखों में आँसू-भरे पूछने लगी — "अब कैसी तबीयत है?"

एक क्षण में चारों तरफ़ खबर फैल गई। मित्रगण मुबारकबाद देने आने लगे। डॉक्टर साहब बड़े श्रद्धाभाव से हर एक के सामने भगत का यश गाते फिरते थे। सभी लोग भगत के दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठे, मगर अंदर जाकर देखा तो भगत का कहीं पता न था। नौकरों ने कहा — "अभी तो यहीं बैठे चिलम पी रहे थे। हम लोग तमाखू देने लगे, तो नहीं ली, अपने पास से तमाखू निकाल कर भरी।"

यहाँ तो भगत की चारों ओर तलाश होने लगी और भगत लपका हुआ घर चला जा रहा था कि बुढ़िया के उठने से पहले पहुँच जाऊँ!

जब मेहमान लोग चले गए, तो डॉक्टर साहब ने नारायणी से कहा — "बुड्ढा न जाने कहाँ चला गया। एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ।"

नारायणी — "मैंने तो सोचा था, इसे कोई बड़ी रकम दूँगी।"

चड्ढा — "रात को तो मैंने नहीं पहचाना, ज़रा साफ़ हो जाने पर पहचान गया। एक बार यह एक मरीज़ को लेकर आया था। मुझे अब याद आता है कि मैं खेलने जा रहा

था और मरीज़ को देखने से इनकार कर दिया था। आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकालूँगा और उसके पैरों पर गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ, उसका जन्म यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है, जो अब से जीवन-पर्यंत मेरे सामने रहेगा।"

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. डॉक्टर साहब को सामने देखकर भी बूढ़े को कुछ कहने का साहस क्यों नहीं हुआ?
2. डॉक्टर साहब ने बूढ़े की प्रार्थना अनसुनी क्यों कर दी?
3. डॉक्टर साहब के मना कर देने पर बूढ़ा किसी दूसरे डॉक्टर के पास क्यों नहीं गया?
4. मृणालिनी कैलाश के सर्प-कला-प्रदर्शन से क्यों घबरा रही थी?
5. कैलाश द्वारा पाले गए साँप ने उसे ही क्यों डस लिया?
6. बूढ़े भगत ने कैलाश का इलाज करने के लिए क्या-क्या उपाय किए?
7. बूढ़ा भगत पत्नी के जागने से पहले घर क्यों लौट आना चाहता था?

लिखित

1. बूढ़े के लिए डॉक्टर साहब का बरताव अनोखा क्यों था?
2. मृणालिनी के किस आग्रह को कैलाश ने अंततः स्वीकार कर लिया और क्यों?
3. किन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि कैलाश को साँपों के बारे में गहरी जानकारी थी?
4. कैलाश को साँप काटने की खबर सुनने पर भगत की प्रतिक्रिया उसके स्वभाव से भिन्न क्यों थी?
5. आपकी दृष्टि में इस कहानी का कौन-सा अंश बूढ़े भगत के अंतर्द्वंद्व को बखूबी उभारता है और क्यों?
6. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फ़ुरसत।
   (ख) मन में प्रतिकार था, पर कर्म मन के अधीन न था।
7. भगत अपने मंत्र से कैलाश का इलाज कर डॉक्टर चड्ढा को क्या मंत्र दे गया?

योग्यता-विस्तार

1. **मंत्र** कहानी का नाट्‌य रूपांतरण कीजिए।
2. चिकित्सा-शिक्षा के विद्‌यार्थी उपाधि-प्राप्त करते समय जो शपथ लेते हैं, उसकी जानकारी प्राप्त करें।

शब्दार्थ और टिप्पणी

घुड़कना	-	फटकारना, डाँटना
उजड्‌ड	-	अनपढ़, मूर्ख
निर्मम	-	हृदयहीन
किस्मत ठोक ली	-	माथा पीटना, भाग्यहीनता को स्वीकार करना
आर्त	-	करुण, आपद्‌ग्रस्त, दुख
आमोद-प्रमोद	-	मनोरंजन
चुहल	-	परिहास
रमणी	-	युवती, स्त्री
रद्‌दा चढ़ाया	-	उकसाया
महुअर	-	सपेरे की बीन
आनन-फानन	-	तुरंत
जड़ी के कायल	-	जड़ी बूटी में विश्वास करने वाले
कोहराम	-	रोना-पीटना
जीवन के नृत्यमय तारिका-मंडित सागर में	-	जीवन के आह्‌लादकारी सपनों में
नारियल पीना	-	हुक्का पीना
कारसाज़	-	सँवारने वाला, काम बनाने वाला
ऐब	-	कमियाँ
प्रतिकार	-	बदले की भावना
सलूक	-	व्यवहार
रवादार	-	एहसानमंद

4 नंददुलारे वाजपेयी
(1906-1967)

नंददुलारे वाजपेयी का जन्म उन्नाव ज़िले (उत्तर प्रदेश) के मंगरैल गाँव में हुआ था। उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी) की परीक्षा उत्तीर्ण की।

1932 ई. में नंददुलारे वाजपेयी दैनिक पत्र **भारत** के संपादक बनकर इलाहाबाद चले गए। कुछ समय बाद उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा में **सूर सागर** का संपादन किया और बाद में गीता प्रेस, गोरखपुर के लिए **रामचरितमानस** का भी संपादन किया। सन 1941 में वाजपेयी जी काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। 1947 में वे सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष बनकर सागर (मध्य प्रदेश) गए। फिर विक्रम विश्वविद्यालय (उज्जैन) के कुलपति नियुक्त हुए।

वाजपेयी जी सौंदर्यवादी और स्वच्छंदतावादी आलोचक माने जाते हैं। वे छायावाद के प्रथम गंभीर समीक्षक हैं। उन्होंने छायावाद के कलात्मक सौंदर्य, सांस्कृतिक महत्त्व और राजनीतिक अभिप्राय का विश्लेषण किया। छायावाद के बाद के हिंदी साहित्य के विभिन्न पक्षों पर भी उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

नंददुलारे वाजपेयी की गद्य शैली में वैचारिकता की प्रधानता है। वे प्रायः तत्सम शब्दों के संतुलित प्रयोग के माध्यम से विचार की गंभीरता कायम रखते हुए भी अपने लेखन को सहज संप्रेष्य बनाते हैं। उनके गद्य में दार्शनिकता का स्पर्श मिलता है।

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं— **हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, आधुनिक साहित्य, नया साहित्य : नए प्रश्न, महाकवि सूरदास, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, कवि सुमित्रानंदन पंत** आदि।

व्यक्ति की एक झलक वाजपेयी जी का संस्मरणात्मक निबंध है। यह संस्मरण प्रेमचंद जी की शवयात्रा के समय प्रसाद जी के साथ लेखक के वार्तालाप से प्रारंभ हुआ है। इसमें जयशंकर प्रसाद के साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व का नए ढंग से विश्लेषण है और साथ ही हिंदी साहित्य में उनके विशिष्ट स्थान की पहचान की कोशिश भी। इस कारण इस संस्मरण को स्वतः ही एक विशेष साहित्यिक गरिमा मिल जाती है।

व्यक्ति की एक झलक

गत वर्ष जब प्रेमचंद जी हिंदी-संसार को सूना करके जा रहे थे, तब उनके साथ श्मशान तक प्रसाद जी गए थे और मैं भी गया था। अर्थी काशी की गलियों से होकर जा रही थी, इतने में किसी ने वहीं की बोली में कहा, "मालूम होता है कोई मास्टर मर गया है।" बात यह थी कि अर्थी के साथ थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग थे, कोई भीड़ न थी और 'राम-नाम सत्य है' की आवाज़ भी वैसी नहीं हो रही थी । ऐसी अवस्था में कोई मामूली मास्टर ही मर सकता था, और कौन मरता!

स्पष्ट ही मुझे उसकी वह बात अच्छी नहीं लगी और मैं कुछ गंभीर-सा बन गया। अर्थी चली जा रही थी और हम लोग उसके पीछे चल रहे थे। इतने में देखता क्या हूँ कि प्रसाद जी ने मेरे कंधे पर हाथ रख दिया है और कान से लग कर धीरे-से, किंतु अपनी सुपरिचित मुसकान के साथ कह रहे हैं, "वाजपेई जी, ई का कहि रहा है, कुछ समझ में आवत है?" प्रसाद जी को जब विनोद करना होता, तब वे इसी प्रकार खड़ी बोली को ज़रा टेढ़ी-मेढ़ी कर दिया करते थे।

मैं अपनी वही फिलासफ़ी सुनाने को हुआ, यह कि आज किसी दूसरे देश का इतना बड़ा व्यक्ति उठ गया होता, तो क्या दृश्य होता, कोई यह कैसे कह सकता कि कोई मास्टर मर गया है, सिर्फ़, यह मैं कह रहा था कि प्रसाद जी ने बीच ही में बात काट दी। कहने लगे, "अरे यार, तुम कुछ समझते नहीं हो, का नाम के बीच मा, यहै बनारसी रंग आय।" जब कभी प्रसाद जी की इच्छा होती, बहुत प्रसन्न होते, मुझसे कानपुर की बोली में बातें करते। वे स्वयं उसी स्थान के मूल निवासी थे, यह भी झलक उनकी बोली में रहती।

मेरी उदासी कम हुई। मैंने यह समझा कि उसने मास्टर के मरने की बात किसी तुच्छता के विचार से नहीं कही। वह अपने किसी काम में लगा हुआ था। जो बात स्वाभाविक उसके मन में आई, वही उसने कही। इसमें मेरे लिए गंभीर होने की कोई बात

नहीं थी। लाखों मनुष्यों का किसी मनुष्य के मरने पर काम-धाम छोड़कर तन्मय हो जाना बहुत आवश्यक नहीं, न मरनेवाले की महत्ता ही इससे प्रकट होती है कि उसकी अर्थी के साथ कितने अधिक व्यक्ति थे, न इससे मृत व्यक्ति को कुछ सुख है, न कुछ लाभ। देखने की बात तो यह है कि किसी ने अपने जीवन-काल में क्या किया। अपने जीवन से स्वयं उसको कितना संतोष या पछतावा रहा और दूसरों के लिए वह क्या छोड़ गया? यही दो मुख्य बातें किसी के जीवन के महत्त्व का निर्णय कर सकती हैं। काल इतना विशाल है और पृथ्वी इतनी विस्तृत है कि बड़े-बड़े सम्राटों की कीर्ति फ़ीकी पड़ जाती है। जिनके जीवन और मरण के अवसर, एक ही साँस में, संसार को आनंद के कोलाहल और शोक के सन्नाटे से भर सकते हैं, वे ही बड़े नहीं हैं । बड़े वे भी हैं, जिनका जीवन-दीप सूने में ही बुझ गया है, किंतु जिनकी अमर ज्योति एक के पास से दूसरे के पास जाकर सबको आलोकित करेगी, धीरे ही धीरे सबके अनुभव में आएगी, सबको प्रकाश देगी। ये सब बातें उसी क्षण मेरे ध्यान में आ गईं और मैंने प्रसाद जी की ओर हँसकर देखा और कहा, "सचमुच आप ठीक कहते हैं, यही बनारसी रंग है।"

प्रसाद जी फिर मुसकराए और बोले, "अब समुझ मा आवा, बनारसी रंग का आय?" मैंने कहा — "आवा समुझ मा।"

पर सच तो यह है कि प्रसाद जी की बात मेरी समझ में फिर भी नहीं आई, क्योंकि मैं उसे समझना चाहता ही नहीं था अथवा यह कहूँ कि मेरी समझ के परे थी उनकी बात। मैं तो भविष्य की बात सोच रहा था कि आगे चलकर प्रेमचंद जी का सम्मान होगा, अभी लोग उन्हें मामूली मास्टर ही समझें तो समझ लें। पर प्रसाद जी का यह मतलब बनारसी रंग से नहीं था। उनका मतलब तो यह था कि कोई किसी के मरने पर क्यों मातम मनाए? हम स्वयं कितनों के मरने की खबर रखते हैं? सब अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं, यही अच्छा है। आनंद तो अपने काम में ही, अपनी कृति में ही है, दूसरी जगह उसे कोई कहाँ ढूँढ़े और ढूँढ़े भी क्यों? सब अपने में ही आनंद पाते हैं, जिसको यह आनंद उपलब्ध नहीं, वही उसकी खोज में इधर-उधर भटकेगा।

भविष्य की आशा भी एक प्रकार का भटकना ही है। मैं भी इसी आशा में भटक रहा था और प्रसाद जी की बात समझना नहीं चाहता था। पर प्रसाद जी जैसे निर्मम और निर्लेप व्यक्ति का वैसा कहना स्वाभाविक ही था।

जो कोई किसी से आशा करता है, वह अपने साथ प्रवंचना करता है। जो भविष्य पर आस्था रखता है, वह अपने अंतःकरण की दुर्बलता प्रकट करता है। जो अपनी कृति पर अविश्वास करेगा, वही अपनी कीर्ति चाहेगा। जो अपनी करनी से प्रसन्न नहीं है, संसार में उसे कभी प्रसन्नता नसीब न होगी। बनारसी रंग से प्रसाद जी का एकमात्र यही आशय था, किंतु मैं इसे समझना नहीं चाहता था। दुर्बलता तो मेरे अंदर थी।

मैंने प्रसाद जी का सदैव यही बनारसी रंग देखा। बाहर से उनका व्यक्तित्व देखकर कोई उनकी मुसकान से मुग्ध होता, कोई उनकी व्यवहारपटुता और मैत्री से मोहित होता। किंतु उनके इस दिव्य, किंतु मोहक बाह्‌य के भीतर जाकर अपनी ही कृति में आनंद माननेवाले, कीर्ति की लिप्सा न रखनेवाले, भली-बुरी समीक्षाओं से समान रूप से तटस्थ रहनेवाले, निस्पृह तथा दिव्यतर प्रसाद जी को बहुत कम लोगों ने देखा। मैं जब उन्हें पहचानने के योग्य हो रहा था, इतने में वे स्वयं ही न रहे!

मेरे पास प्रसाद जी के न जाने कितने संस्मरण हैं, कितनी स्मृतियाँ हैं। अपने जीवन का कितना आनंद मैंने उनके संपर्क से प्राप्त किया, मैं नहीं कह सकता। उसे कहना उसका मूल्य घटाना होगा। पर एक बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता। प्रसाद जी अपने युग के सबसे बड़े पौरुषवान कवि थे। मैथिलीशरण जी का काव्य करुणा के रंग से ओत-प्रोत है, शक्ति का संकल्पात्मक स्रोत उसमें उतना नहीं। 'प्रियप्रवास' के हरिऔध जी के संगीत में पौरुष है, किंतु अपने समय की संकोचशील प्रवृत्तियों की छाया भी उसमें पड़ी हुई है। निराला जी का पौरुष नारी के स्नेह से ही नहीं, सम्मान से भी संबद्‌ध होने के कारण 'रोमैंटिक टाइप' का है। सुमित्रानंदन पंत जी के काव्य में (मेरा मतलब उनके सर्वश्रेष्ठ 'पल्लव' काव्य से है) बाल्यसुलभ स्निग्धता और निर्मलता है, किंतु प्रसाद जी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं। इसीलिए मैं प्रसाद जी को हिंदी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनंदवादी कवि मानता हूँ। प्रसाद जी का साहित्य सौंदर्य और कल्पना-प्रधान होता हुआ भी उनके काव्य-प्रतीक वास्तविक जीवनरस से अभिषिक्त हैं। जीवन से वैराग्य, तटस्थता और निषेधों का प्राबल्य हम उनमें कहीं नहीं पाते। छायावाद, जिसके ये आविर्भावक थे, उनकी पुरुष-वृत्ति का साधक हुआ है। नारी और पुरुष दोनों में शक्ति की एक ही तरंग समान रूप से भरने के कारण प्रसाद जी में किसी प्रकार का मानसिक स्खलन या दुर्बलता नहीं दीख पड़ती।

स्वस्थ स्त्री और पुरुष जैसे और कुछ होते हैं, वही प्रसाद जी के काव्य में है। और चित्रण में भी प्रसाद जी मनोवैज्ञानिक यथार्थता की ओर निरंतर बढ़ते गए हैं, जिसका विकास उनके अंतिम काव्य ग्रंथ 'कामायनी' में बड़े उत्तम रूप से हुआ है।

प्रसाद जी और प्रेमचंद जी एक दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रेमचंद जी का साहित्य मुख्यतः दुख के आधार पर स्थित है। दुख का बोध करा देना ही शक्ति का स्रोत बहा देना है। उनका यही मूलमंत्र था। (यद्यपि दुख या दैन्य का परिचय कराने में वे सब जगह सफल नहीं हुए)। प्रेमचंद जी ने आनंद के विधानात्मक पक्ष की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत प्रसाद जी सुसंस्कृत और स्वस्थ नारी और पुरुष की शक्ति का रहस्य ही प्रकट करते रहे। शक्ति का परिचय करा देना ही दुख का उच्छेद कर डालना है। उनका यही विधान पक्ष था। जहाँ तक रूढ़ि है, वहाँ तक शुद्ध शक्ति नहीं है, इसलिए प्रसाद जी रूढ़ियों का तिरस्कार करके एकमात्र शक्ति के ही साधक हुए। इस साधना में उनके समान सफल साहित्यकार मुझे इस युग में कोई दूसरा नहीं दिखलाई देता। भारतवर्ष के इने-गिने आधुनिक श्रेष्ठ साहित्यकारों में प्रसाद जी का पद सदैव ऊँचा रहेगा, इसमें तो संदेह ही क्या है, किंतु मुझे कहना यह है कि अपने उद्देश्य के प्रति ऐसी एकनिष्ठा मैंने किसी आधुनिक कलाकार में नहीं देखी। इसे आप बनारसी रंग कहें या काशी की महिमा कहें या 'प्रसाद जी' की अपनी सूझ कहें, संस्कृति कहें, जो कुछ चाहें, कहें।

आज वह बनारसी रंग कहाँ है, वह काशी की महिमा कहाँ है, शक्ति का एकनिष्ठ उपासक वह आधुनिक शैव कहाँ है? हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नेता, मेरे सम्मानित मित्र प्रसाद जी कहाँ हैं? हार मानकर कहना पड़ता है — प्रसाद जी अब नहीं रहे।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. प्रेमचंद जी की अर्थी ले जाते समय रास्ते में किस टिप्पणी को सुनकर लेखक दुखी हुआ?
2. अनाम व्यक्ति की उस टिप्पणी पर प्रसाद जी की क्या प्रतिक्रिया हुई?

3. प्रसाद जी पर संस्मरण लिखते समय लेखक को प्रेमंचद की अर्थी ले जाते समय की गई टिप्पणी क्यों याद हो आई?
4. लेखक बाद में इस टिप्पणी को कोई गंभीर बात क्यों नहीं मानता है?

लिखित

1. 'बनारसी रंग' से प्रसाद जी का क्या आशय था?
2. मरने वाले के महत्त्व का निर्णय किन दो बातों के आधार पर किया जाना चाहिए?
3. लेखक किन-किन को बड़ा मानता है और क्यों?
4. प्रसाद जी को निर्मम और निर्लेप व्यक्ति क्यों कहा गया है?
5. लेखक ने प्रसाद के व्यक्तित्व के बाह्य और भीतरी स्वरूप की किन विशेषताओं का उल्लेख किया है?
6. लेखक ने प्रसाद जी को हिंदी का सबसे प्रथम और सर्वश्रेष्ठ शक्तिवादी और आनंदवादी कवि क्यों माना है?
7. प्रेमचंद और प्रसाद, किस प्रकार एक-दूसरे के पूरक हैं?
8. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) जो कोई किसी से आशा करता है वह अपने साथ प्रवंचना करता है।
   (ख) जहाँ तक रूढ़ि है वहाँ तक शुद्ध शक्ति नहीं है।
9. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   बड़े वे भी हैं, जिनका जीवन-दीप सूने में ही बुझ गया है, किंतु जिनकी अमर ज्योति एक के पास से दूसरे के पास जाकर सबको आलोकित करेगी, धीरे ही धीरे सबके ही अनुभव में आएगी, सबको प्रकाश देगी।

योग्यता-विस्तार

1. महादेवी वर्मा कृत **पथ के साथी** में से जयशंकर प्रसाद पर संस्मरण पढ़िए और उसके रोचक अंशों को कक्षा में सुनाइए।
2. प्रसाद कवि के साथ-साथ उच्च कोटि के नाटककार भी थे। पुस्तकालय से उनका कोई नाटक लेकर पढ़िए और कक्षा में चर्चा कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

फिलासफ़ी - दर्शन
तुच्छता - हलकापन, ओछापन

कीर्ति	-	यश
निर्मम	-	ममता रहित
निर्लेप	-	तटस्थ
प्रवंचना	-	धोखा
लिप्सा	-	इच्छा
निस्पृह	-	लगाव न रखना
दिव्यतर	-	अलौकिक, अतिसुंदर
स्निग्धता	-	कोमलता
अविरल	-	निरंतर, लगातार
आविर्भावक	-	प्रारंभकर्ता
मानसिक स्खलन	-	मानसिक अस्थिरता या गिरावट
उच्छेद करना	-	उन्मूलन करना, उखाड़ देना
शैव	-	शिवभक्त

5 हजारी प्रसाद द्‌विवेदी
(1907-1979)

हजारी प्रसाद द्‌विवेदी का जन्म गाँव आरत दुबे का छपरा, ज़िला बलिया (उ.प्र.) में हुआ था। संस्कृत महाविद्‌यालय, काशी से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने सन 1930 में काशी हिंदू विश्वविद्‌यालय से ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की।

इसके बाद वे शांति निकेतन चले गए। सन 1940-50 तक द्‌विवेदी जी हिंदी भवन, शांति निकेतन के निदेशक रहे। वहाँ उन्हें गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन का सान्निध्य प्राप्त हुआ। सन 1950 में वे वापस वाराणसी आए और काशी हिंदू विश्वविद्‌यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने। 1960 ई. में उन्होंने पंजाब विश्वविद्‌यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण किया।

आलोक पर्व पुस्तक पर उन्हें साहित्य अकादमी द्‌वारा पुरस्कृत किया गया। लखनऊ विश्वविद्‌यालय ने उन्हें डी.लिट्. की मानद उपाधि दी और भारत सरकार ने उन्हें **पद्‌मभूषण** अलंकरण से विभूषित किया।

द्‌विवेदी जी का अध्ययन क्षेत्र बहुत व्यापक था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बँगला आदि भाषाओं एवं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, धर्म आदि विषयों में उनकी विशेष गति थी। इसी कारण उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति की गहरी पैठ और विषय-वैविध्य के दर्शन होते हैं। वे परंपरा के साथ आधुनिक प्रगतिशील मूल्यों के समन्वय में विश्वास करते थे।

द्‌विवेदी जी की भाषा सरल और प्रांजल है। व्यक्तित्व-व्यंजकता और आत्मपरकता उनकी शैली की विशेषता है। व्यंग्य शैली के प्रयोग ने उनके निबंधों पर पांडित्य के बोझ को हावी नहीं होने दिया है। भाषा-शैली की दृष्टि से उन्होंने हिंदी की गद्‌य शैली को एक नया रूप दिया।

उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं — **अशोक के फूल, विचार और वितर्क, कल्पलता, कुटज, आलोक पर्व** (निबंध-संकलन); **चारुचंद्रलेख, बाणभट्‌ट की आत्मकथा, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा** (उपन्यास); **सूर-साहित्य, कबीर, हिंदी साहित्य की भूमिका, कालिदास की लालित्य-योजना** (आलोचनात्मक ग्रंथ)। उनकी सभी रचनाएँ **हजारी प्रसाद द्‌विवेदी ग्रंथावली** के ग्यारह भागों में संकलित हैं।

प्रस्तुत निबंध ***भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!*** *द्विवेदी जी की व्यक्तित्व-व्यंजक और आत्मपरक शैली का एक उत्तम उदाहरण है। इस निबंध में उन्होंने भीष्म के चरित्र का विश्लेषण करते हुए एक सिद्धांत की स्थापना की है कि इतिहास का रथ वह हाँकता है जो सोचता है, और सोचे को करता भी है। सिर्फ़ सोचते रहने वाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। उनका यह सिद्धांत हमें भीष्म के बारे में नए सिरे से सोचने को विवश करता है। वस्तुतः द्विवेदी जी ने भीष्म के बहाने परंपरा के आलोक में आधुनिक जीवन की समीक्षा की है।*

भीष्म को क्षमा नहीं किया गया!

मेरे एक मित्र हैं, बड़े विद्वान, स्पष्टवादी और नीतिमान। वह इस राज्य के बहुत प्रतिष्ठित नागरिक हैं। उनसे मिलने से सदा नई स्फूर्ति मिलती है। वह अवस्था में मुझसे छोटे हैं, मुझे सदा सम्मान देते हैं। इस देश में यह एक अच्छी बात है कि सब प्रकार से हीन होकर भी यदि कोई उम्र में बड़ा हो, तो थोड़ा-सा आदर पा ही जाता है। मैं भी पा जाता हूँ। मेरे इस मित्र की शिकायत थी कि देश की दुर्दशा देखते हुए भी मैं कुछ कह नहीं रहा हूँ, अर्थात इस दुर्दशा के लिए जो लोग ज़िम्मेदार हैं उनकी भर्त्सना नहीं कर रहा हूँ। यह एक भयंकर अपराध है। कौरवों की सभा में भीष्म ने द्रौपदी का भयंकर अपमान देखकर भी जिस प्रकार मौन धारण किया था, वैसे ही कुछ मैं और मेरे जैसे कुछ अन्य साहित्यकार चुप्पी साधे हैं। भविष्य इसे उसी तरह क्षमा नहीं करेगा जिस प्रकार भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया। मैं थोड़ी देर तक अभिभूत होकर सुनता रहा और मन में पापबोध का भी अहसास हुआ। सोचता रहा, कुछ करना चाहिए, नहीं तो भविष्य क्षमा नहीं करेगा। वर्तमान ही कौन क्षमा कर रहा है? काफ़ी देर तक मैं परेशान रहा — चुप रहना ठीक नहीं है, कंबख्त भविष्य कभी माफ़ नहीं करेगा, उसकी सीमा भी तो कोई है। पाँच हज़ार वर्ष बीत गए और अब तक बिचारे भीष्म पितामह को क्षमा नहीं किया गया। भविष्य विकट असहिष्णु है।

काफ़ी देर बाद भ्रम दूर हुआ। मैं भीष्म नहीं हूँ। अगर हिंदी में लिखने वाला कोई भीष्म हो जाता हो, तो भी मुझे कौन पूछता है? बहुत ज्ञानी-गुणी भरे पड़े हैं। मुझसे अवस्था में, ज्ञान में, प्रतिभा में बहुत आगे। मुझे कोई डर नहीं है। भविष्य नामक महादुरंत अज्ञात मुझे किसी गिनती में लेने वाला नहीं है। डरना हो तो वे ही लोग डरें, जिनकी गिनती हो सकती है। तुम क्यों घबराते हो, मनसाराम, तुम तो न तीन में, न तेरह में! बड़ी राहत मिली इस यथार्थबोध से।

मगर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि थोड़ी देर के लिए ही सही, भीष्म मुझ पर छाए रहे। प्राचीन काल में भीष्म जैसा धर्मज्ञ और ज्ञानी खोजना कठिन है। महाभारत का

शांतिपर्व इसका गवाह है। कोई समस्या तो भले आदमी ने छोड़ी नहीं। प्राचीन काल के ज्ञानियों में भीष्म मुझे सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, अपने अगाध इतिहासबोध के कारण। युधिष्ठिर के हर प्रश्न के उत्तर में वह प्रायः यह कहकर शुरू करते हैं 'अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्' (यहाँ भी लोग इस पुराने इतिहास की नज़ीर देते हैं)।

किस प्रकार पुराने इतिहास से वह वर्तमान समस्या के सही स्वरूप का उद्‌घाटन करते हैं और उसका विकासक्रम समझा देते हैं, वह चकित कर देता है। हर प्रश्न की तह में जाने की उनकी पद्‌धति आधुनिक युग में भी उपयोगी है। ज्ञान और धर्म के सच्चे रूप को पहचानने में उन्हें कमाल की सफलता मिली थी। यह कहना गलत होगा कि भीष्म के प्रति भारतवर्ष ने कृतज्ञता नहीं दिखाई। आज भी श्रद्‌धावान लोग भीष्माष्टमी को अपनी श्रद्‌धा उनके प्रति निवेदन करते ही हैं, परंतु जिस समय मेरे मित्र अत्यंत प्रभावशाली शैली में भीष्म को मेरे ऊपर आरोपित कर रहे थे, उस समय थोड़ी देर के लिए भीष्म का आवेश सचमुच मेरे ऊपर आ गया था। प्रभावशाली भाषा में जादुई शक्ति होती है। उसी से कवि पाठक को अभिभूत करता है, वक्ता उसी के बल पर श्रोता पर छा जाता है। मैं भी कुछ आविष्ट हुआ। भीष्म की ही शैली में बोलने की प्रेरणा जाग्रत हुई भी...'अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्'

एक पुराना इतिहास मुझे भी स्मरण हो आया था।

वह इतिहास यह है। बात सन 35-36 की है। उन दिनों मैं शांति निकेतन में था। एक दिन प्रातः भ्रमण के लिए निकला था। मैं साधारणतः प्रातः भ्रमण के लिए तभी निकलता हूँ, जब किसी ऐसे उत्साही घुमक्कड़ से, जो श्रद्‌धेय कोटि के होते हैं, प्रेरणा मिलती है। उन दिनों श्रद्‌धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन की प्रेरणा से प्रातः भ्रमण के लिए निकलता था। सही बात तो यह है कि निकलते वह थे, मैं पीछे हो लेता था। तो उस दिन भी मैं उनके साथ ही निकला। भाग्य उस दिन प्रसन्न था। देखा, गुरुदेव धीरे-धीरे अपने बगीचे में टहल रहे थे। कुछ गंभीर मुद्रा में थे। आचार्य सेन ने कहा, "चलो प्रणाम कर लें।" वह आगे चले, मैं पीछे-पीछे। धीरे-धीरे दबे पाँव हम लोग उनके पास पहुँच गए। चरण छूकर प्रणाम निवेदन किया। उनका ध्यान भंग हुआ। देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने उस दिन मुझे संबोधित करते हुए कहा — "तुमने कभी सोचा है कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया और श्रीकृष्ण को ही क्यों अवतार रूप में सम्मान दिया गया?"

मैंने कभी ऐसा सोचा ही नहीं था। क्या जवाब देता? मैं मन-ही-मन अपने सोचने की शक्ति की दरिद्रता पर लज्जित हो रहा था। आचार्य सेन ने रक्षा की। वह बोले — "हम लोग तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर आपसे ही सुनने की आशा रखते हैं।" गुरुदेव ने हँसते हुए कहा, "आपने तो कुछ सोचा ही होगा। मगर मैं पंडित को ही छेड़ना चाहता था। अभी नौजवान है, नया खून है, मार खाने की अभी शक्ति है, मेरी पीठ तो जर्जर हो चुकी है।" कहकर गुरुदेव खूब प्रसन्न भाव से हँसे। मैंने विनीत भाव से कहा — "ऐसा प्रश्न तो मेरे मन में कभी उठा ही नहीं, परंतु आप कहते हैं तो सोचूँगा। परंतु क्या सोचूँ, यह बता दें।" गुरुदेव के शब्द याद नहीं हैं, पर उनके कथन की मेरे मन पर जो छाप रह गई है, वह यह है कि शर-शय्या पर पड़े भीष्म ने जब भयंकर नरसंहार देखा होगा, उनके जैसे ज्ञानी के मन में अपनी प्रतिज्ञा, उसके परवर्ती परिणाम आदि बातें क्या उठी नहीं होंगी, मैंने सोचना शुरू किया था। कई प्रतिभाशाली मित्रों से भी सोचने को कहा था, पर सोचता ही रह गया। जिन्होंने सोचने के लिए उकसाया था, वह चले गए। आज मेरे मित्र ने कहा कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया तो बात फिर उमड़ कर नए रूप में मानसपटल पर हहरा उठी। लहराई तो क्या होगी!

भीष्म शर-शय्या पर सोए उपयुक्त काल की प्रतीक्षा कर रहे थे — मरने के लिए। जैसे-तैसे, जब-तब, जहाँ-तहाँ मरना भी ठीक नहीं होता। उचित मुहूर्त में मरना चाहिए। साधारण मनुष्य मुहूर्त का विचार किए बिना ही मर जाते हैं। भीष्म ऐसे नहीं थे। उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त था। जब तक उत्तम मुहूर्त न आ जाए तब तक वह मृत्यु नहीं चाहते थे। इसका फ़ायदा उठाया युधिष्ठिर ने। सारी शंकाएँ उनसे कह डालीं और उत्तर भी वसूल कर लिए। मेरे एक आदि गुरु ने शर-शय्या वाली कहानी सुनाई थी। उनके कहने का मतलब था कि भीष्म पितामह अनेक बाणों की नोंक पर सोए हुए थे। उनका तकिया भी बाणों की नोंक का ही बना था। मेरा बालक मन बहुत व्याकुल हो गया था। वह हज़ार ब्रह्मचारी रहे हों, उन्हें बाणों की नोंक तो चुभती ही होगी। बेचारे वृद्ध करवट भी नहीं बदल पाते होंगे। जब बदलते होंगे तब बाण बुरी तरह चुभ जाते होंगे और उसी में युधिष्ठिर प्रश्नों की बौछार कर रहे होंगे। यद्यपि वह (युधिष्ठिर) तो दयालु थे उस समय थोड़ी और दया दिखाते, तो क्या बिगड़ जाता? मैं जब उस दृश्य की कल्पना करता था, तब मुझे बड़ी पीड़ा होती थी, पर दूसरे बच्चे ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करते थे और प्रसन्न होते थे। उनकी दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिए यह कोई कष्ट की बात ही नहीं थी। मैं भी

उसकी महिमा तो समझता था, पर न जाने क्यों मेरा मन दुखी हो उठता था। बाद में मेरे एक विद्वान बुज़ुर्ग ने बताया कि 'शर' सरकंडे को कहते हैं। उसी के बाण बनते थे, इसलिए 'शर' का अर्थ बाण हो गया। भीष्म वस्तुतः बाणों की नोंक पर नहीं, सरकंडों की चटाई पर लेटे थे। यह व्याख्या ठीक है या नहीं, पर मेरे बालक मन को इससे बड़ी राहत मिली थी। सो, भीष्म शर-शय्या पर थे अर्थात सरकंडों की चटाई पर लेटे हुए थे। वैसे जर्जर वृद्ध के लिए यह भी कम कठोर शय्या नहीं थी, पर चुभनेवाली नहीं होगी। समर्थ पौत्रों ने उसे कुछ तो तरीके से बनवाया ही होगा। युधिष्ठिर ने अच्छा ही किया जो उनका मन बातचीत में उलझाए रखा, परंतु जब युधिष्ठर और अन्य लोग उन्हें विश्राम करने के लिए छोड़कर चले जाते होंगे, तब एकांत में इस बूढ़े के मन में क्या चिंता रहती होगी? कुछ तो सोचते ही होंगे। श्रद्धालु लोग तो कहेंगे कि वह तुरंत ब्राह्मी स्थिति में चले जाते होंगे। भगवान श्री कृष्ण ने तो कहा ही है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाने पर कोई मोह होता ही नहीं। पर जिन्हें श्रद्धा का इतना संबल प्राप्त नहीं है, वे क्या करें? उन्हें लगता है कि भीष्म जैसा ज्ञानी भी कुछ सोचता ज़रूर होगा।

गुरुदेव पूछते हैं कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया, मेरे यह मित्र कहते हैं कि भीष्म को क्षमा नहीं किया गया, इसीलिए उन्हें अवतार नहीं माना गया। कुछ बात है अवश्य! भारतवर्ष किसी बात पर मौन भी रह जाता है, तो उसका कुछ अर्थ होता है। किसी ने नहीं कहा कि भीष्म को अमुक-अमुक कारणों से अवतार नहीं माना गया और श्री कृष्ण को अमुक-अमुक कारणों से अवतार माना गया। एक को विष्णु का अवतार नहीं कहा गया, क्योंकि वह नहीं थे, एक को मान लिया गया क्योंकि वह वस्तुतः थे। हमारे मनीषियों ने इसी ढंग से सोचा है।

दिनकर जी महामना और उदार कवि थे। उनसे क्षमा मिल जाने की आशा से इतना तो कहा ही जा सकता है कि भीष्म अपने बम भोलानाथ गुरु परशुराम से अधिक संतुलित, विचारवान और ज्ञानी थे। पुराने रिकार्ड कुछ ऐसा सोचने को मजबूर करते हैं। फिर भी परशुराम को दस अवतारों में गिन लिया गया और बेचारे भीष्म को ऐसा कोई गौरव नहीं दिया गया। क्या कारण हो सकता है?

एकांत में भीष्म सरकंडों की चटाई पर लेटे-लेटे क्या अपने बारे में सोचते नहीं होंगे? मेरा मन कहता है कि ज़रूर सोचते होंगे। भीष्म ने कभी बचपन में पिता की गलत आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए भीषण प्रतिज्ञा की थी — वह आजीवन विवाह नहीं करेंगे।

अर्थात इस संभावना को ही नष्ट कर देंगे कि उनके पुत्र होगा और वह या उसकी संतान कुरुवंश के सिंहासन पर दावा करेगी। प्रतिज्ञा सचमुच भीषण थी। कहते हैं कि इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण ही वह देवव्रत से भीष्म बने। यद्‌यपि चित्रांगद और विचित्रवीर्य तक तो कौरव-रक्त रह गया था तथापि बाद में वास्तविक कौरव-रक्त समाप्त हो गया, केवल कानूनी कौरव वंश चलता रहा। जीवन के अंतिम दिनों में इतिहास मर्मज्ञ भीष्म को यह बात क्या खली नहीं होगी?

भीष्म को अगर यह बात नहीं खली तो और भी बुरा हुआ। परशुराम चाहे ज्ञान-विज्ञान की जानकारी का बोझ ढोने में भीष्म के समकक्ष न रहे हों, पर सीधी बात को सीधे समझने में निश्चय ही वह उनसे बहुत आगे थे। वह भी ब्रह्मचारी थे — बालब्रह्मचारी। पर भीष्म जब अपने निर्वीर्य भाइयों के लिए कन्याहरण कर लाए और एक कन्या को अविवाहित रहने को बाध्य किया, तब उन्होंने भीष्म के इस अशोभन कार्य को क्षमा नहीं किया। समझाने-बुझाने तक ही नहीं रुके, लड़ाई भी की। पर भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के शब्दों से चिपटे ही रहे। वह भविष्य नहीं देख सके, वह लोक कल्याण को नहीं समझ सके। फलतः अपहृता अपमानित कन्या जल मरी।

नारद जी भी ब्रह्मचारी थे। उन्होंने सत्य के बारे में शब्दों पर चिपटने को नहीं, सबके हित या कल्याण को अधिक ज़रूरी समझा था — 'सत्यस्य वचनम् श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्!' भीष्म ने दूसरे पक्ष की उपेक्षा की। वह 'सत्यस्य वचनम्' को 'हित' से अधिक महत्त्व दे गए। श्रीकृष्ण ने ठीक इससे उलटा आचरण किया। प्रतिज्ञा में 'सत्यस्य वचनम्' की अपेक्षा 'हितम्' को अधिक महत्त्व दिया। क्या भारतीय सामूहिक चित्त ने भी उन्हें पूर्णावतार मानकर इसी पक्ष को अपना मौन समर्थन दिया है? एक बार गलत-सही जो कह दिया, उसी से चिपट जाना 'भीषण' हो सकता है, हितकर नहीं। भीष्म ने 'भीषण' को ही चुना था।

भीष्म और द्रोण भी, द्रौपदी का अपमान देखकर भी क्यों चुप रह गए? द्रोण गरीब अध्यापक थे, बाल-बच्चे वाले थे। गरीब ऐसे कि गाय भी नहीं पाल सकते थे। बिचारी ब्राह्मणी को चावल का पानी देकर दूध माँगने वाले बच्चे को फुसलाना पड़ा था। उसी अवस्था में फिर लौट आने का साहस कम लोगों में होता है, पर भीष्म तो पितामह थे। उन्हें बाल-बच्चों की फिक्र भी नहीं थी, भीष्म को क्या परवाह थी। एक कल्पना यह की जा सकती है कि महाभारत की कहानी जिस रूप में प्राप्त है, वह उसका बाद का

परिवर्तित रूप है। शायद पूरी कहानी जैसी थी, वैसी नहीं मिली है। लेकिन आजकल के लोगों को आप जो चाहें कह लें, पुराने इतिहासकार इतने गिरे हुए नहीं होंगे कि पूरा इतिहास ही उलट दें। सो, इस कल्पना से भी भीष्म की चुप्पी समझ में नहीं आती। इतना सच जान पड़ता है कि भीष्म के कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कहीं कोई कमज़ोरी थी। वह उचित अवसर पर उचित निर्णय नहीं ले पाते थे। यद्यपि वह जानते बहुत थे, तथापि कुछ निर्णय नहीं ले पाते थे। उन्हें अवतार न मानना ठीक ही हुआ। आजकल भी ऐसे विद्वान मिल जाएँगे, जो जानते बहुत हैं, करते कुछ भी नहीं। करने वाला इतिहास निर्माता होता है, सिर्फ़ सोचते रहने वाला इतिहास के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। इतिहास का रथ वह हाँकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. लेखक के मित्र किस कारण लेखक को सदा सम्मान देते थे?
2. 'बड़ी राहत मिली इस यथार्थबोध से' — लेखक किस यथार्थबोध और राहत की बात कर रहा है?
3. गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के किस प्रश्न ने लेखक को सोचने के लिए विवश कर दिया?
4. 'इच्छा मृत्यु' से क्या तात्पर्य है?
5. देवव्रत का नाम **'भीष्म'** कैसे पड़ा?
6. लेखक ने किस तथ्य के प्रतिपादन के लिए भीष्म को चुना?

लिखित

1. भविष्य को 'विकट असहिष्णु एवं महादुरंत अज्ञात' क्यों कहा गया है?
2. भीष्म की शर-शय्या की विभिन्न व्याख्याओं का लेखक के बालमन पर क्या प्रभाव पड़ा?
3. सत्य और शिव के प्रति भीष्म और कृष्ण के दृष्टिकोण में क्या अंतर था?
4. टिप्पणी कीजिए कि भीष्म पर उनकी मिथ्या कर्तव्यनिष्ठा इस कदर हावी हो गई थी कि वह अपना वास्तविक कर्तव्य ही भूल गए।
5. लेखक ने भीष्म के अपराध को द्रोण के अपराध से बड़ा क्यों माना है?

6. इस निबंध के माध्यम से लेखक ने आज के राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के संदर्भ में कौन-कौन सी समस्याएँ उठाई हैं?
7. पाठ के आधार पर लिखिए कि भीष्म को अवतार क्यों नहीं माना गया?
8. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) भारतवर्ष किसी बात पर मौन भी रह जाता है, तो उसका कुछ अर्थ होता है।
   (ख) भीष्म ने 'भीषण' को ही चुना था।
   (ग) इतिहास का रथ वह हाँकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है।

योग्यता-विस्तार

1. धर्म और नीति में भीष्म की गहरी पैठ के बोध के लिए महाभारत का शांतिपर्व पढ़िए और उसमें प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण विचारों के संबंध में कक्षा में चर्चा कीजिए।
2. कल्पना कीजिए कि शर-शय्या पर लेटे हुए भीष्म के मन में क्या-क्या बातें उठी होंगी।

शब्दार्थ और टिप्पणी

भर्त्सना - तिरस्कार, निंदा
अभिभूत - भाव में डूबा हुआ
असहिष्णु - कठोर, असहनशील
महादुरंत - जिसका पार पाना बहुत कठिन हो
नज़ीर - प्रमाण, किसी मुकदमे का वह फैसला जो उसी ढंग से दूसरे मुकदमे में मिसाल के तौर पर पेश किया जाए
भीष्माष्टमी - माघ शुक्ल अष्टमी जब भीष्म ने प्राण त्यागे
आवेश - प्रवेश, व्याप्ति
आविष्ट - तत्पर, भरा हुआ
शांति निकेतन - रवींद्रनाथ ठाकुर द्‌वारा संस्थापित शिक्षा-संस्थान
क्षितिमोहन सेन - शांति निकेतन स्थित विद्‌याभवन के तत्कालीन अध्यक्ष तथा संतकाव्य के विशेषज्ञ
गुरुदेव - रवींद्रनाथ ठाकुर
परवर्ती - बाद के समय का
हहरा उठना - सिहरना
ब्राह्मी स्थिति - ब्रह्म को अनुभव करने की स्थिति
मनीषी - मननशील, विद्‌वान
महामना - उदार हृदयवाला

देवव्रत	-	भीष्म (महाभारत में भीष्म का नाम देवव्रत कहा गया है)
अपहृता	-	जिस स्त्री का अपहरण किया गया हो
समकक्ष	-	समान स्तर के
निर्वीर्य	-	कमज़ोर, पौरुषहीन
सत्यस्य वचनम् श्रेयः	-	सत्य बोलना कल्याणकारी है
सत्यादपि हितं वदेत	-	सत्य से भी बढ़कर कल्याणकारी वचन है
कर्तव्य-अकर्तव्य	-	करने योग्य और न करने योग्य कार्य

6 हरिशंकर परसाई
(1922-1995)

हरिशंकर परसाई का जन्म जमानी गाँव, ज़िला होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) में हुआ था। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. किया। कुछ वर्षों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात सन 1947 से वे स्वतंत्र लेखन में जुट गए। जबलपुर से **वसुधा** नामक साहित्यिक पत्रिका निकाली जिसे वे अनेक वर्षों तक घाटे के बावजूद चलाते रहे।

परसाई मुख्यतः व्यंग्य-लेखक हैं किंतु उन्होंने व्यंग्य का प्रयोग सतही मनोरंजन के लिए नहीं किया, अपितु उसे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार और शोषण को उद्‌घाटित करने का माध्यम बनाया। परसाई जी के व्यंग्य निबंधों में जितनी पैनी राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय मिलता है वह हिंदी साहित्य में दुर्लभ है। वस्तुतः उन्होंने व्यंग्य-विधा को साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान की। उनके व्यंग्य-लेखों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे समाज में आई विसंगतियों, विडंबनाओं पर करारी चोट तो करते हैं किंतु मन में कटुता उत्पन्न न करके हमें चिंतन और कर्म की प्रेरणा देते हैं।

भाषा प्रयोग में परसाई को असाधारण कुशलता प्राप्त है। वे प्रायः बोलचाल के शब्दों का प्रयोग करते हुए भी सदा सतर्क रहते हैं कि कौन-सा शब्द कब और कहाँ अधिक अर्थवत्ता प्रदान करेगा।

परसाई जी ने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों की रचना की है, जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं — **हँसते हैं रोते हैं, जैसे उनके दिन फिरे** (कहानी संग्रह); **रानी नागफनी की कहानी, तट की खोज** (उपन्यास); **तबकी बात और थी, भूत के पाँव पीछे, बेईमानी की परत, पगडंडियों का ज़माना, सदाचार की ताबीज़, शिकायत मुझे भी है, और अंत में** (निबंध संग्रह); **वैष्णव की फिसलन, तिरछी रेखाएँ, ठिठुरता हुआ गणतंत्र, विकलांग श्रद्‌धा का दौर** (व्यंग्य-लेख, संग्रह)। उनका समग्र साहित्य **परसाई रचनावली** के रूप में छह भागों में प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत निबंध व्यंग्यात्मक शैली का एक अच्छा उदाहरण है। लेखक हमारा ध्यान समाज में विद्यमान ऐसे लोगों की ओर आकृष्ट करता है जो निंदा-कर्म में लीन होकर ही अपना

जीवन सार्थक समझते हैं। निंदा-कर्म के विश्लेषण में परसाई जी ने निंदकों पर जो प्रहार किए हैं, वे तीखे तो हैं, किंतु साथ ही हमारा मनोरंजन भी करते हैं। संवाद और स्वगत चिंतन की शैली में लिखा गया यह व्यंग्य निबंध निंदा की प्रवृत्ति पर चोट करते हुए भी उसे मानवीय कमज़ोरी मानता है।

निंदा रस

'क' कई महीने बाद आए थे। सुबह चाय पीकर अखबार देख रहा था कि वे 'तूफ़ान' की तरह कमरे में घुसे, 'साइक्लोन' की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ा तो मुझे धृतराष्ट्र की भुजाओं में जकड़े भीम के पुतले की याद आ गई। वह धृतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अंधे धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए पूछा, "कहाँ है भीम? आ बेटा, तुझे कलेजे से लगा लूँ।" और जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, उन्होंने प्राण-घाती स्नेह से उसे जकड़कर चूर कर डाला। ऐसे मौके पर हम अक्सर अपने पुतले को अँकवार में दे देते हैं, हम अलग खड़े देखते रहते हैं। 'क' से क्या मैं गले मिला? क्या मुझे उसने समेटकर कलेजे से लगा लिया? हरगिज़ नहीं। मैंने अपना पुतला ही उसे दिया। पुतला इसलिए उसकी भुजाओं में सौंप दिया कि मुझे मालूम था कि मैं धृतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र ने बताया कि 'क' अपनी ससुराल आया है और 'ग' के साथ बैठकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निंदा करता रहा। इस सूचना के बाद जब आज सवेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निस्स्नेह कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी। भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाए है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त अभिनय में पूरा है। उसके आँसू भर नहीं आए, बाकी मिलन के हर्षोल्लास के सब चिह्न प्रकट हो गए — वह गहरी आत्मीयता की जकड़, नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी।

बोला, "अभी सुबह गाड़ी से उतरा और एकदम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खंड दूसरे खंड से मिलने को आतुर रहता है।" आते ही झूठ बोला कंबख्त! कल का आया है, यह मुझे मेरा मित्र बता गया था। इस झूठ में कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो। कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं। वे आदतन, प्रकृति

के वशीभूत झूठ बोलते हैं। उनके मुख से निष्प्रयास निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार हैं। वे अगर मुंबई जा रहे हैं और उनसे पूछें, तो वे कहेंगे, "कोलकाता जा रहा हूँ।" ठीक बात उनके मुँह से निकल ही नहीं सकती। 'क' भी बड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।

वह बैठा। कब आए? कैसे हो? वगैरह के बाद उसने 'ग' की निंदा प्रारंभ कर दी। मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब 'ग' पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खींची कि मैं सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी 'ग' के सामने इसने कल शाम को खींची होगी।

सुबह की बातचीत में 'ग' प्रमुख विषय था। फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छह वाक्यों से धराशायी करके वह बढ़ लेता।

अद्भुत है मेरा यह मित्र। उसके पास दोषों का 'कैटलॉग' है। मैंने सोचा कि जब यह हर परिचित की निंदा कर रहा है, तो क्यों न मैं लगे हाथ विरोधियों की गत, इसके हाथों करा लूँ। मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निंदा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मज़दूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चीरता जाता है, वैसे ही मैंने विरोधियों के नाम एक-एक करके खिसकाए और वह उन्हें काटता गया। कैसा आनंद था! दुश्मनों को रणक्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता होगा।

मेरे मन में गत रात्रि के उस निंदक मित्र के प्रति मैल नहीं रहा। दोनों एक हो गए। भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है, दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते हैं। निंदा का ऐसा ही भेद-नाशक अँधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह विदा हुआ, तो हम लोगों के मन में बड़ी शांति और तुष्टि थी।

निंदा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निंदकों को एक जगह बैठा कर निंदा में निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से जो रामधुन गा रहे हैं। निंदकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है। इसीलिए संतों ने निंदकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ 'मिशनरी' निंदक मैंने देखे हैं। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर चौबीसों घंटे वे निंदा कर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं। उनकी नितांत निर्लिप्तता, निष्पक्षता इसी से मालूम होती है कि वे प्रसंग आने पर अपने

बाप की पगड़ी भी उसी आनंद से उछालते हैं, जिस आनंद से अन्य लोग दुश्मन की। निंदा इनके लिए 'टॉनिक' होती है।

ट्रेड यूनियन के इस ज़माने में निंदकों के संघ बन गए हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ खबरें लाते हैं और अपने संघ के प्रधान को सौंपते हैं। यह कच्चा माल हुआ। अब प्रधान उनका पक्का माल बनाएगा और सब सदस्यों को 'बहुजन हिताय' मुफ़्त बाँटने के लिए दे देगा। यह फ़ुरसत का काम है, इसलिए जिनके पास कुछ और करने को नहीं होता, वे इसे बड़ी खूबी से करते हैं। एक दिन हमसे एक ऐसे संघ के अध्यक्ष ने कहा, "यार, आजकल लोग तुम्हारे बारे में बहुत बुरा-बुरा कहते हैं।" हमने कहा, "आपके बारे में मुझसे कोई भी बुरा नहीं कहता। लोग जानते हैं कि आपके कानों के घूरे में इस तरह का कचरा मज़े में डाला जा सकता है।"

ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदा भी होती है। लेकिन इसमें वह मज़ा नहीं जो मिशनरी भाव से निंदा करने में होता है। इस प्रकार का निंदक बड़ा दुखी होता है। ईर्ष्या-द्वेष से चौबीसों घंटे जलता है और निंदा का जल छिड़ककर कुछ शांति अनुभव करता है। ऐसा निंदक बड़ा दयनीय होता है। अपनी अक्षमता से पीड़ित वह बेचारा दूसरे की सक्षमता के चाँद को देखकर सारी रात श्वान जैसा भौंकता है। ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदा करने वाले को कोई दंड देने की ज़रूरत नहीं है। वह निंदक बेचारा स्वयं दंडित होता है। आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता। उसे और क्या दंड चाहिए? निरंतर अच्छे काम करते जाने से उसका दंड भी सख्त होता जाता है। जैसे, एक कवि ने एक अच्छी कविता लिखी, ईर्ष्याग्रस्त निंदक को कष्ट होगा। अब अगर एक और अच्छी कविता लिख दी, तो उसका कष्ट दुगना हो जाएगा।

निंदा का उद्गम ही हीनता और कमज़ोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दबता है। वह दूसरों की निंदा करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है। बड़ी लकीर को कुछ मिटाकर छोटी लकीर बड़ी बनती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों निंदा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निंदा को मारता है। इंद्र बड़ा ईर्ष्यालु माना जाता है। क्योंकि वह निठल्ला है। स्वर्ग में देवताओं को बिना-उगाया अन्न, बे-बनाया महल और बिन-बोए फल मिलते हैं। अकर्मण्यता में उन्हें अप्रतिष्ठित होने का भय बना रहता है, इसलिए कर्मी मनुष्यों से उन्हें ईर्ष्या होती है।

निंदा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा लंबा-चौड़ा व्यापार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की प्रतिष्ठा ही दूसरों की कलंक-कथाओं के पारायण पर आधारित होती है। बड़े रसविभोर होकर वे जिस-तिस की सत्यकल्पित कलंक-कथा सुनाते हैं और स्वयं को पूर्ण संत समझने की तुष्टि का अनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए और सुन लीजिए, "बड़ा खराब ज़माना आ गया। तुमने सुना? फलाँ और अमुक...।" अपने चरित्र पर आँख डालकर देखने की उन्हें फ़ुरसत नहीं होती। एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निंदा अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उचक्का, दगाबाज़ आदमी है। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं बेईमानी से इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गई।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है, हममें हीनता और ग्लानि आती है। तब हम उसकी निंदा करके उससे अपने को अच्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुलाकात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन में आ रहा है। अब कुछ तटस्थ हो गया हूँ। सुबह जब उसके साथ बैठा तब मैं स्वयं निंदा के 'काला सागर' में डूबता-उतराता था, कल्लोल कर रहा था। बड़ा रस है न निंदा में। सूरदास ने इसलिए इसे 'निंदा सबद रसाल' कहा है।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. 'क' से गले मिलने पर लेखक ने उसे अपना पुतला ही दिया। इस कथन में 'पुतले' से लेखक का क्या तात्पर्य है?
2. लेखक को अपने मित्र की भुजाओं की जकड़ धृतराष्ट्र की जकड़ जैसी क्यों लगी?
3. 'निर्दोष मिथ्यावादी' से क्या तात्पर्य है?
4. संतो ने निंदकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह क्यों दी है?
5. निंदा किन लोगों के लिए 'टॉनिक' होती है?

6. लेखक ने निंदा के कौन-कौन से प्रकार बताए हैं?
7. निंदा का उद्गम स्रोत बताइए।
8. हमारे 'अहं' को कब धक्का लगता है और हम उसकी तुष्टि कैसे करते हैं?

लिखित

1. लेखक को अपने मित्र के सामने अपने विरोधियों के नाम गिनाने में क्यों आनंद आ रहा था?
2. 'मिशनरी' भाव की निंदा और ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निंदा में क्या अंतर है?
3. निंदा को कुछ लोगों की पूँजी क्यों कहा गया है?
4. निम्नलिखित वाक्यों में निहित व्यंग्य को स्पष्ट कीजिए —
   (क) निंदकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुर्लभ है।
   (ख) क्या उसने पति को त्याग दिया? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गई।
5. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाए है।
   (ख) भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है, दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते हैं।
6. निम्नांकित वाक्यों के रेखांकित शब्दों के प्रयोग वैशिष्ट्य पर टिप्पणी कीजिए —
   (क) कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं।
   (ख) इस सूचना के बाद जब आज सवेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निस्स्नेह कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी।
   (ग) निंदा का ऐसा ही भेद-नाशक अंधेरा होता है।
   (घ) कभी-कभी ऐसा भी होता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है ।

योग्यता-विस्तार

1. आप अपने जीवन में कुछ निर्दोष मिथ्यावादियों के संपर्क में आए होंगे। उनकी मिथ्यावादिता से संबंधित कुछ मनोरंजक प्रसंग कक्षा में सुनाइए।
2. हरिशंकर परसाई के कुछ अन्य व्यंग्य-प्रधान निबंधों को पढ़िए और उनमें से आपको जो सर्वाधिक रोचक लगे उसकी विशेषताओं पर कक्षा में चर्चा कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

साइक्लोन - चक्रवात, बवंडर
प्राण-घाती - जानलेवा

धृतराष्ट्र की भुजाएँ -	धृतराष्ट्र जन्मांध थे, किंतु उनकी भुजाओं में बड़ी शक्ति थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि महाभारत युद्ध के उपरांत जब उन्हें मालूम हुआ कि उनके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन सहित सभी पुत्र भीम के ही हाथों मारे गए हैं तो उनके मन में भीम से प्रतिशोध लेने की इच्छा जगी। उन्होंने व्यक्त रूप में भीम की प्रशंसा की और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। श्री कृष्ण धृतराष्ट्र के मंतव्य को भाँप गए और उन्होंने भीम के स्थान पर धातु-मूर्ति को प्रस्तुत किया जिसे धृतराष्ट्र ने भुजाओं में भरकर चूर-चूर कर दिया।
अँकवार -	गले लगना
हर्षोल्लास -	खुशी और प्रेम का समन्वय
नागफनी -	एक पौधा विशेष जिस पर काँटे होते हैं, कैक्टस का एक प्रकार
निष्प्रयोजन -	अकारण
जघन्य -	निंदनीय, घृणित
कैटलॉग -	सूची
आँगन कुटी छवाय -	अपने आँगन में ही कुटिया बनाकर। कबीर का प्रसिद्ध दोहा है निंदकों के संबंध में — निदंक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय। बिन साबुन पानी बिना, निरमल करे सुभाय।।
मिशनरी -	सेवाव्रती, ईसाई धर्मप्रचारक, लगन एवं तत्परता से काम करने वाले
ट्रेड यूनियन -	मज़दूरों का संघ
बहुजन हिताय -	अनेक लोगों के भले के लिए, बौद्ध धर्म का एक लक्ष्य जिसके अंतर्गत अधिकाधिक लोगों की भलाई एवं सुख के लिए कार्य करना होता है
घूरा -	कूड़ा-करकट फेंकने की जगह, कूड़े-करकट का ढेर
श्वान -	कुत्ता
निकृष्ट -	नीच
अहं -	अहंकार
कर्महीन -	निकम्मा, अकर्मण्य
पारायण -	आद्यंत पाठ, संपूर्णता, पार जाना
सत्य कल्पित कलंक-कथा -	दूसरों को बदनाम करने के लिए गढ़ी हुई कहानी जो सत्य जैसी लगे।
पिलपिला अहं -	दुर्बल मन, थोथा घमंड
कल्लोल -	खेल, क्रीड़ा
निंदा सबद रसाल -	निंदा करने में बहुत रस आता है

7 सुंदरलाल बहुगुणा

(जन्म 1927)

सुंदरलाल बहुगुणा का जन्म गाँव मरोड़ा, ज़िला टिहरी गढ़वाल (उत्तरांचल) में हुआ। उनकी आरंभिक शिक्षा अपने गाँव में और उत्तर काशी में हुई। बाद में उन्होंने विभाजन पूर्व के पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से बी.ए. किया। तरुणाई में टिहरी गढ़वाल के प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता श्रीदेव सुमन के साथ कार्य किया, जिसके कारण अपने राजभक्त परिवार में वे कुल-कलंक माने जाने लगे।

महात्मा गांधी, संत विनोबा, मीराबेन, सेंट बार्बे बेकर के जीवन दर्शन से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने आपको अछूतोद्धार, खादी, पर्यावरण और चिपको आंदोलनों से सक्रिय रूप से जोड़ लिया। वे अनेक बार जेल गए। उन्होंने पर्यावरण-संरक्षण आंदोलन को एक नई और मौलिक दिशा दी। उनके चिंतन में मनुष्यता का संवेदन है। हिमालय, गंगा, जंगल, टिहरी बाँध को लेकर बहुगुणा जी ने जो सवाल उठाए हैं, वे पर्यावरण-संरक्षण के संबंध में उनकी प्रतिबद्धता को रेखांकित करते हैं। टिहरी बाँध के विरोध में उनका ऐतिहासिक अनशन पर्यावरण-संरक्षण के प्रति उनकी मानवीय संवेदना, समर्पण-भावना और निष्ठा को उजागर करता है। पर्यावरण के क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय योगदान को **मैगासेसे पुरस्कार** द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई।

उनकी पुस्तक **धरती की पकार** पर्यावरण विषयक उनके जीवन दर्शन का सार है। प्रस्तुत निबंध उनकी इसी पुस्तक से लिया गया है। इस विचारोत्तेजक निबंध में इस सदी की सबसे गंभीर और ज्वलंत समस्या विकास बनाम पर्यावरण का गहराई से विश्लेषण-विवेचन किया गया है।

लेखक का कथन है, "प्रश्न केवल विकास के विरोध का नहीं है, ज़िंदा रहने के अधिकार की रक्षा का है।" पर्यावरण-रक्षण के आंदोलनों पर चर्चा करते हुए लेखक यह अपेक्षा करता है, लोग सत्ता पर निर्भर न रहकर पर्यावरण की रक्षा के लिए स्वयं आगे आएँ।

पर्यावरण या विकास और अस्तित्व या विनाश

स्टॉकहोम सम्मेलन में मानवजाति के भविष्य पर प्रदूषण के महादैत्य के कारण मँडराते हुए खतरे के प्रति वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों और समाज आंदोलनकारियों की चिंता सत्ता के केंद्रों में पहुँच गई, पर्यावरण संरक्षण का मुद्दा सड़क से लेकर राजमहल तक चर्चा का विषय बन गया। प्रदूषण और प्रकृति-विनाश को रोकने के लिए उत्साही समूह सरकारी कानूनों की चिंता न कर इसके खिलाफ़ सीधी कार्रवाई करने लगे। जब मैं सन 1982 जून में पहली बार स्टॉकहोम गया तो मेरे मित्र इवो इलिस्टी मुझे उस स्थान पर ले गए, जहाँ भूमिगत रेलवे के स्टेशन में जाने के लिए मार्ग बनाने हेतु एक विशाल वृक्ष काटा जानेवाला था। इस वृक्ष को बचाने के लिए सारा नगर एक हो गया। एक ओर कानून से लैस सत्ता पक्ष था, जो विकास के लिए कुछ हो-हल्ला करनेवाले हुल्लड़बाज़ों को दबाने के लिए कटिबद्ध था, लेकिन नागरिक मोर्चे में अवकाश-प्राप्त सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश जैसे कई संभ्रांत लोग थे। मजबूर होकर सत्ता पक्ष को झुकना पड़ा। स्टॉकहोम के लोग बड़े गौरव के साथ आगंतुकों को यह पेड़ दिखाते हैं। यह उनकी विजय का प्रतीक है, गौरव-गाथा के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। उनकी यह विजय स्टॉकहोम में पहला विश्वसम्मेलन बुलाने का कारण बनी।

विश्व का दूसरा देश, जिसने पर्यावरण के मुद्दों को लेकर कई जन आंदोलन किए, जर्मनी है। जंगल काटकर सड़क बनाने, हवाई अड्डे का विस्तार करने आदि के विरोध में सरकार को आंदोलनकारियों का सामना करना पड़ा। फ्रैंकफर्ट में, विश्व के सबसे महत्त्वपूर्ण हवाई अड्डे का अमेरिकी दबाव में सरकार विस्तार करना चाहती थी। सारा विश्वविद्यालय ही विरोध में खड़ा हो गया। विद्यार्थी निर्माण-स्थल पर डट गए। बर्लिन में सरकार समुद्रतट को जोड़नेवाली एक ऐसी सड़क बनाना चाहती थी, जिससे सघन वन नष्ट हो रहा था। युवकों ने वहाँ डेरा डाल दिया, फलतः सरकार को सारी सड़क के क्षेत्र को ऊँची-ऊँची कँटीले तार की बाड़ों से घेरकर ही यह काम करना पड़ा।

पेड़ों की कटाई के सवाल को लेकर तो कोलंबिया, संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी भाग और मलेशिया में कई स्थानों पर आंदोलन हुए। सन 1985 में जब मैंने सीयाटो से सेन-फ्रांसिस्को तक की कार-यात्रा आंदोलनकारियों से मिलने के लिए की थी, तो ओरोगेन राज्य में एक स्थान पर पेड़ों की कटाई रोकने का युवकों ने एक अभिनव तरीका निकाला था। जहाँ से पहले पेड़ को काटकर मशीनों को आगे ले जाने के लिए रास्ता बनाना था, वहाँ 70 फुट की ऊँचाई पर एक युवक पेड़ पर चढ़ गया और फिर एक सप्ताह तक उतरा ही नहीं।

पर्यावरण की रक्षा के लिए 'ग्रीन पीस' जैसे जुझारू दल का प्रादुर्भाव पर्यावरण रक्षा के आंदोलन में एक ऐतिहासिक घटना है। 'करो या मरो' जैसे जुझारू दल ने संहारक सामग्री ले जानेवाले जहाज़ों तक का पीछा किया। भारत का 'चिपको' आंदोलन ज़ो इन सबसे (स्टॉकहोम की कार्रवाई को छोड़कर) पुराना और ज़मीन से जुड़ा हुआ, शहरी सभ्यता के प्रभाव से दूर, हाशिए पर रहनेवाले गरीब ग्रामीणों का आंदोलन था, अपनी कार्यशैली और निहित विचार की दृष्टि से उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इस आंदोलन का घोष वाक्य —

क्या हैं जंगल के उपकार?
मिट्टी, पानी और बयार!
मिट्टी, पानी और बयार,
ज़िंदा रहने के आधार!

आज विश्व के करोड़ों लोगों की ज़ुबान पर है।

जहाँ सीधी कार्रवाई के आंदोलन ज़मीन पर पर्यावरण की लड़ाई लड़ रहे थे, वहाँ हरित दलों का अभ्युदय हुआ और जर्मनी में तो सत्ता में भी उसकी हिस्सेदारी हुई। पर्यावरण मंत्रालय तो सभी देशों में बने, प्रारंभ में तो इन मंत्रालयों को इतना महत्त्व दिया गया कि भारत जैसे कई देशों में स्वयं प्रधानमंत्री ने इस मंत्रालय का कार्यभार सँभाला। सन 1980 में श्रीमती इंदिरा गांधी भारत की प्रथम पर्यावरण मंत्री थीं। शनैःशनैः इन मंत्रालयों का अवमूल्यन होने लगा और कई देशों में तो वे पर्यावरण की रक्षा के बजाय पर्यावरण के ह्रास का कारण बन गए।

व्यवस्था का एक चरित्र होता है कि वह जहाँ अपने बदलने का खतरा देखती है, सुरक्षा के लिए कवच बना लेती है और कवच के लिए उसी सामग्री का उपयोग करती

है, जो बदलाव करनेवालों के हाथ में होती है। इस दिशा में अस्सी के दशक में जो कदम उठाए गए उनमें से जुझारू संगठनों को सरकारी सहायता पर जीवित रहनेवाले गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) बना दिया। मुख्य कार्यकर्ताओं को सरकारी समितियों में शामिल कर लड़ाकुओं को दरबारी बना लिया। धनी देशों को यह खतरा निरंतर बना रहता है कि कहीं गरीब देशों में ऐसे स्वतंत्र जन आंदोलन खड़े न हो जाएँ, जो व्यवस्था-परिवर्तन की बात करने लग जाएँ। अतः उनकी सरकारों ने अपने देश के बड़े गैर-सरकारी संगठनों के मार्फ़त मुक्त हस्त से गरीब देशों के ऐसे संगठनों को सहायता बाँटनी प्रारंभ कर दी, जिससे सुविधाभोगी बन जाने से उनकी तीव्रता कम हो सके। जिन योजनाओं — वृक्षारोपण, जन-स्वास्थ्य, साक्षरता, जलग्रहण क्षेत्र संरक्षण आदि — के लिए उन्हें सहायता दी जाती है, वे भी तो सरकारी विकास-कार्यों की तरह विकास-कार्य ही हैं, जिन पर ऊपर से पर्यावरण का मुलम्मा चढ़ा हुआ है।

क्योंकि झगड़ा तो विकास की गलत दिशा के कारण पर्यावरण की क्षति से शुरू हुआ था, इसलिए विकास और पर्यावरण पर बहस चली और उसकी परिणति हुई — सतत विकास (सस्टेनेबल डेवलपमेंट) के नारे में। रियो के सम्मेलन में इसे जागतिक मान्यता मिल गई। अतः सरकारी तौर से उसके बाद सारे विकास पर सतत (सस्टेनेबल) का रंग चढ़ गया, अब संघर्ष की आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई लीपापोती। वास्तव में तो विकास की मौजूदा अवधारणा को ही पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता है। सातत्य विकास का पहला लक्षण है। आज खनिज और धातुओं, जल, जंगल, ज़मीन जैसे संसाधनों की अंधाधुंध लूट के आधार पर खड़ी आर्थिक वृद्धि को मंज़िल माननेवाला विकास कितने दिन टिकनेवाला है? विकास का दूसरा लक्षण है, इससे दूसरे जीवधारियों को क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए, क्योंकि सारा जीवन परस्परावलंबी है। जैविक विविधता का ह्रास तो आज भी परंपरागत विकासवादियों की गंभीर चिंता का विषय बन चुका है। यह तो दूर का सपना है कि विकास का लाभ सबको समान रूप से मिलना चाहिए और इसकी शुरुआत सबसे नीचेवाले अंत्योदय से होनी चाहिए। आज का विकास तो गरीब और अमीर के बीच की खाइयाँ चौड़ी करते हुए कुलाँचें मार रहा है। जहाँ 1960 में इसमें 1 और 30 का अंतर था, तीन दशक बाद 1990 में यह बढ़कर 1 और 59 हो गया।

हम विकास की चर्चा यहाँ छोड़ रहे हैं, क्योंकि विश्व के बहुसंख्यक लोगों का इस सारे गोरखधंधे से विश्वास ही उठ गया है। यह सारी बहस तो उन लोगों के बीच की है, जो व्यवस्था के साथ जुड़े हुए हैं। यह इसलिए चलती है, क्योंकि इसके साथ तंत्र की शक्ति है, तंत्र पर हावी पाँच प्रतिशत राजनीतिक और आर्थिक शक्ति हथियाए हुए लोग और उनके 15 प्रतिशत सहायकों के लिए ही रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र और सारा प्रचारतंत्र बोलता है। सभी मंचों पर वे ही दिखाई देते हैं। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि कुछ लोग सत्ता के आसनों पर विराजमान हैं और कुछ कतार बनाकर प्रतीक्षा में। अब विकास ने इस धरती को इतना प्रदूषित और विपन्न बना दिया है कि प्रकृति द्वारा प्राणिमात्र को ज़िंदा रहने के लिए दी हुई प्राणवायु ही ज़हर बन गई है। जीवन-संचार करनेवाले तत्त्वों के बजाय विकिरण का खतरा पैदा हो गया है। पानी का भयंकर प्रदूषण ही नहीं हुआ है, बल्कि पानी की कमी भी हो गई है। औद्योगिक सभ्यता हमारे हाथ में तो आकर्षक पैकेटों में उपभोग की वस्तुएँ रख देती है, लेकिन हमारी आँखों के सामने दूर नदियों में विष छोड़ जाती है, वायु में ज़हर घोल जाती है। इसी प्रकार रात को दिन बनानेवाली बिजली, अपने उत्पादन केंद्र में पैदा करनेवाले विकिरण के खतरे, वायुमंडल में कार्बन घोलने या बाँध बनाकर उपजाऊ धरती व जंगलों को डुबाकर लाखों लोगों को उजाड़ने की घिनौनी करतूतों की कहानी पीछे छोड़ जाती है।

कहा जाता है कि विकास के कारण ही तो यह संभव है कि प्रति व्यक्ति आयु-दर में भारी वृद्धि हुई है। अवश्य ही हुई है, पर ये सब दवाइयों के व्यसनी चलते-फिरते पुतले मात्र हैं, जिनकी जीवन-शक्ति का निरंतर ह्रास हो रहा है। केवल मानव की नहीं, प्राणिमात्र के लिए ज़िंदा रहने का खतरा पैदा हो गया है।

अतः अब मूल सवाल अस्तित्व और विनाश का है। क्या हम एक प्रजाति के रूप में ज़िंदा रहना चाहते हैं या हमेशा-हमेशा के लिए सामूहिक मौत की ओर बढ़ना चाहते हैं? जिन लोगों को पर्यावरणवादी या पर्यावरणविद् कहकर खुश किया जाता है उन्हें दृढ़तापूर्वक कहना चाहिए, हम विद् और वादी कुछ नहीं, हम तो मौत की ओर धकेलनेवाली शक्तियों के खिलाफ़ उस मूक बहुमत को संगठित कर ज़िंदा रहने के लिए लड़नेवाले हैं। लड़ाइयाँ व्यवस्था के साथ जुड़कर नहीं, उसके खिलाफ़ तनकर खड़े होने और लक्ष्य की प्राप्ति तक डटे रहने से जीती जाती हैं।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. स्टॉकहोम सम्मेलन का मुख्य मुद्दा क्या था?
2. जर्मनी में सरकार को आंदोलनकारियों का सामना क्यों करना पड़ा?
3. ओरोगेन राज्य के युवकों ने पेड़ों की कटाई रोकने के लिए क्या नया तरीका निकाला?
4. 'ग्रीन पीस' को जुझारू दल क्यों कहा गया है?
5. चिपको आंदोलन की क्या विशेषता थी?
6. लेखक ने विकास की चर्चा को गोरखधंधा क्यों कहा है?

लिखित

1. स्टॉकहोम के लोग आगंतुकों को कौन-सा पेड़ दिखाते हैं और क्यों?
2. जुझारू संगठनों को गैर-सरकारी संगठन क्यों बना दिया गया?
3. विकास की मौजूदा अवधारणा को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता क्यों है?
4. सातत्य विकास के क्या लक्षण बताए गए हैं?
5. विकास की कहानी विनाश की कहानी बनकर क्यों रह गई है?
6. लेखक पर्यावरणवादियों से क्या आह्वान कर रहा है?
7. इस निबंध के माध्यम से लेखक ने आज के राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के संदर्भ में कौन-कौन सी समस्याएँ उठाई हैं?
8. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) व्यवस्था का एक चरित्र होता है कि वह जहाँ अपने बदलने का खतरा देखती है, सुरक्षा के लिए कवच बना लेती है और कवच के लिए उसी सामग्री का उपयोग करती है, जो बदलाव करने वालों के हाथ में होती है।
   (ख) लड़ाइयाँ व्यवस्था के साथ जुड़कर नहीं, उसके खिलाफ़ तनकर खड़े होने और लक्ष्य की प्राप्ति तक डटे रहने से जीती जाती हैं।

योग्यता-विस्तार

1. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण संरक्षण के मुद्दे पर आयोजित सम्मेलनों, यथा — रियो, स्टॉकहोम आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कीजिए।
2. पर्यावरण संरक्षण के संबंध में भारत सरकार द्वारा किए जा रहे कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए और कक्षा में चर्चा कीजिए कि सरकार के ये प्रयास वस्तुतः कितने सार्थक सिद्ध हुए हैं?

शब्दार्थ और टिप्पणी

गौरव-गाथा	-	यश की गाथा, विजय की कथा
प्रादुर्भाव	-	प्रारंभ
बयार	-	हवा
अभ्युदय	-	आरंभ
अवमूल्यन	-	गिरावट
मुलम्मा	-	आवरण
जागतिक	-	पूरे विश्व की, विश्वव्यापी
सातत्य	-	निरंतरता
परस्परावलंबी	-	एक-दूसरे पर आश्रित
विकिरण	-	किरणों की दूर फैलने की प्रक्रिया, उससे उत्पन्न कुप्रभाव

8 मृदुला गर्ग
(जन्म 1938)

मृदुला गर्ग का जन्म कोलकाता में हुआ। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद तीन-चार वर्षों तक प्राध्यापक के पद पर कार्य करती रहीं। बाद में उन्होंने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। विवाह के पश्चात वे डालमिया नगर (बिहार), दुर्गापुर (बंगाल), बागलकोट (कर्नाटक) जैसे औद्योगिक नगरों में रहीं। सन 1974 से वे दिल्ली में रहकर स्वतंत्र लेखन कर रही हैं। विभिन्न सामाजिक कार्यों के अलावा उनकी रुचि अभिनय और रंगमंच में भी रही है। अमेरिका, जर्मनी, यूगोस्लाविया और विश्व के अन्य देशों के अनेक विश्वविद्यालयों में उन्होंने व्याख्यान दिए हैं। ***उसके हिस्से की धूप*** *उपन्यास पर उन्हें मध्य प्रदेश साहित्य परिषद ने महाराजा वीर सिंह अखिल भारतीय पुरस्कार प्रदान किया। उनका* ***एक और अजनबी*** *नाटक आकाशवाणी से पुरस्कृत हो चुका है।*

मृदुला गर्ग मूलतः कथा लेखिका हैं। उनके कथा साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता का चित्रण मिलता है। उनके लेखन में शहरी, शिक्षित और संभ्रांत स्त्री की अस्मिता की तलाश है। उन्होंने अपने समय और समाज की समस्याओं पर विचार प्रधान निबंधों की भी रचना की है। उनकी रचनाओं में सरल बोलचाल की भाषा के साथ अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों का प्रयोग मिलता है। उनके लेखन की एक विशेषता यह है कि उन्होंने हिंदी गद्य-लेखन की प्रचलित परिपाटी को तोड़ा है।

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं — ***उसके हिस्से की धूप, चित्तकोबरा, अनित्य, कठगुलाब*** *(उपन्यास);* ***डैफ़ोडिल जल रहे हैं, ग्लेशियर से, उर्फ़ सैम*** *(कहानी संग्रह);* ***एक और अजनबी, जादू का कालीन*** *(नाटक);* ***रंग ढंग, चुकते नहीं सवाल*** *(निबंध संग्रह)।*

दिल से गए दिल्ली में *नामक आत्मपरक निबंध में लेखिका ने दिल्ली से जुड़ी अपनी स्मृतियों का सजीव शैली में वर्णन किया है। इसमें दिल्लीवासियों के दिखावे और पाखंड पर गहरा व्यंग्य है। इसमें लेखिका का दिल्ली से जुड़ाव व्यक्त हुआ है और एक प्रकार का अलगाव भी। यह नए अंदाज़ में लिखा गया ऐसा निबंध है जिसमें लेखिका की ज़िंदादिली और सूक्ष्म सामाजिक दृष्टि का परिचय मिलता है।*

दिल से गए दिल्ली में

मैंने अपनी उम्र का बड़ा हिस्सा दिल्ली में बिताया है। पैदा मैं अलबत्ता कोलकाता में हुई थी पर वह महज़ इत्तिफ़ाक था। मेरे पिता वहाँ नौकरी करने गए थे। पर आम रिवाज को न मानते हुए, बीवी को ससुराल के हवाले नहीं किया था। साथ लिवा ले गए थे। यूँ मेरा जन्म कोलकाता में हो गया पर मेरे तीन साल पूरा करते-करते पिता जी दिल्ली लौट आए। मेरी पढ़ाई-लिखाई दिल्ली में हुई। फिर यहीं जानकी देवी कॉलेज में पढ़ाया। पूरे पच्चीस साल की आयु होने पर छुटकारा मिला। दुबारा जब दस साल बाद लौटी तो लेखिका हो चुकी थी। कहने का मतलब यह कि, भाइयो और बहनो, मैंने लिखना तब शुरू किया जब दिल्ली से निजात मिली। अब आप में से कोई तेज़ भाई-बहन यह ज़रूर कहेंगे कि शुरू भले तब किया हो, अब तो 28 साल से यहीं बैठी कलम घिस रही हो। तो हुई न तुम लेखिका दिल्ली की। हूँ तो। पर सच यह है कि दिल्ली से कभी अपना दिल न लगा। रेल या प्लेन में बैठी नहीं कि दिल्ली भूली, यहाँ तक कि अपना फ़ोन नंबर और घर का पता भी याद नहीं रहता।

जानती हूँ, हमारा समाज हेरवा करने में उस्ताद है। जो अपने शहर को याद करके सौ-सौ आँसू न बहाए, वह हिंदी का लेखक कहलाने लायक नहीं। शहर छोड़कर बाहर न गया हो तो उसकी बीस-तीस साल पुरानी छवि को याद करके रो लेता है। यानी हेरवा हर हाल में करता है, पहलू में हो, या परदेश में। फिर मुझे क्या मुसीबत है कि मैं दिल्ली को लेकर भावुक नहीं हो पाती। कसूर दिल्ली का है या मेरा? दिल्ली का कम, मेरा ज़्यादा, पर थोड़ा बहुत दिल्ली का है ज़रूर। यूँ भावुक हम भी कम नहीं। बचपन से लेकर जवान होने तक शरतचंद्र पढ़ा है। ज़्यादा नहीं तो आठ-दस मुंबइया फिल्में ज़रूर देखी हैं। भले वे खुद को कला फिल्में बतलाती रही हों, भावुकता में किसी से कम नहीं थीं। भावुकता को पल्लू में बाँधने के लिए इतना काफ़ी है। हेरवा करना हो तो हम पीछे न रहें। पर निर्जीव स्थानों के लिए नहीं होता अपने से। पुराना घर, बचपन में भुगता स्कूल

या कॉलेज, पहचाने गली-कूचे, रिहायशी बस्ती-मोहल्ले, इन्हें माशूक का दर्जा देकर, लंबी साँसें भरने की आरज़ू कभी हुई नहीं। जी नहीं, मेरी याददाश्त खराब नहीं है, बल्कि ज़रूरत से ज़्यादा अच्छी है। वही तो असल मुसीबत है, भूल न पाने की। पूरा का पूरा याद न रखना चाहो तो कल्पना का स्पर्श देकर, फंतासी बनानी ही पड़ती है। खुद को इतना वरगलाओ कि याददाश्त गड्डमड्ड हो जाए, जान न पाए कितनी सच्चाई है, कितनी फंतासी। जीवन की त्रासदियों से पार पाने का इससे बेहतर पाखंड नहीं है।

ज़िंदगी ऐसी बला है कि जीते चले जाओ तो सब कुछ रोज़नामचा बन जाता है। दुख, पीड़ा, जोखिम, प्रेम सब। इस क्षुद्र बनाने के खेल में दिल्ली माहिर है। खेल के अलावा कुछ चलता है तो सेंध। खेल और सेंध में जितनी महारत साहित्यकारों को है, शायद ही किसी को हो। हिंदी साहित्य के यथार्थवादी कलेवर में कला, कोसने-भर की चीज़ रह गई है। पर कला भी प्रकृति की तरह बदला लेना खूब जानती है। यथार्थ और समाज में सेंध लगाते, भाषा से खेलते लोग, कलम थामे बैठे रहते हैं कि कल्पना या सौंदर्यानुभूति हाथ चलवाए तो रचना बने। एक बार लिखी जाए तो फिर से जी भर कला को कोसा जा सकता है। कुछ वैसा ही हश्र दिल्ली को कोसने पर मेरा हुआ। जितना उसे दिल से निकाला, उतना अवचेतन में जा घुसी, सोचे-विचारे और भोगे-भुगते में सेंध लगाकर। और मेरे ज़्यादातर काल्पनिक पात्र दिल्ली में बसते नज़र आए। बसे ज़रूर पर दिल्ली के हुए नहीं, यानी फ़ितरत उनकी गैर-दिल्ली वालों की रही। तो पहले बतलाएँ कि दिल्ली की फ़ितरत क्या है।

दिल्ली की फ़ितरत है, दिखावा। कुछ न कुछ पाखंड तो दुनिया हमेशा से करती रही है। पर दिल्लीवासी इस खेल में पूर्ण पारंगत हैं। वे जीवन-मूल्य की तरह उसे परिमार्जित करते हैं, संस्कार की तरह पूजते हैं। हर कोई, खुद को दार्शनिक, समाजसेवी और साधक दिखलाता है। कोई सचमुच हो तो ज़िंदगी उसे रोज़नामचा बना डालती है और किसी को दिक्कत नहीं होती। पर जब नाटक करना हो तो हरदम चौकन्ना और गुरु-गंभीर रहना पड़ता है। हँसने-हँसाने को तिलांजलि देनी पड़ती है। दिल्ली शहर यूँ भी कई वर्गों में बँटा है। हँसने से डर पैदा हो जाता है कि छोटा आदमी बड़े पर न हँस दे और समाजवाद आकर सिर पर न सवार हो जाए। किताबों और भाषणों में बंद रहे तभी तक ठीक है। छोटे-बड़े की श्रेणियाँ लेखक बिरादरी में भी भरपूर हैं, इसलिए आजकल, किसी साहित्यिक गोष्ठी

में जाओ तो लगता है, मातम में आए हैं, सब लोग क्षुब्ध, गंभीर और फ़िक्रमंद नज़र आते हैं, सहमे-सहमे से कि, कहीं कोई उन पर या वे अपने पर हँस न दें।

यहीं आकर मेरे किरदार दिल्ली को मुँह चिढ़ा उठते हैं। ऐसा नहीं कि वे पाखंड नहीं करते। खूब करते हैं पर मन-ही-मन जानते हैं कि वे कर क्या रहे हैं। इसलिए हँसने से परहेज़ नहीं करते। खुद पर हँसते-हँसते, खुदा पर हँसने ही जुर्रत कर लेते हैं, औरों की तो बिसात ही क्या!

दिल्ली के दिखावे का सबूत चाहिए तो लीजिए, एक किस्सा सुनिए। किस्सा बीसेक साल पहले का है। जैसा कि दिल्ली में रिवाज है, हमारे मोहल्ले में एक प्रेसवाली, ठेले पर कपड़े इस्तिरी करने आया करती थी। उसका पाँच बरस का बच्चा, मूक-बधिर था। संयोग से उन्हीं दिनों मूक-बधिरों के लिए अव्वल माने जाने वाले स्कूल का तबादला, हमारे मोहल्ले के करीब हुआ। मुझे सूझा कि उसे वहाँ दाखिला दिलवाया जाए। उन दिनों मैं खासी आदर्शवादी हुआ करती थी। इसलिए यह भी सूझा कि दाखिला उसे, राजनीतिक सिफ़ारिशों से नहीं, उसकी अपनी काबिलियत के बल पर दिलाना होगा। दिल्ली में आप जानो, नेता की सिफ़ारिश के बिना कोई काम नहीं होता। नेता माने केवल राजनेता नहीं। कोई भी हो सकता है, उद्योगपति, अभिनेता, पत्रकार, संपादक-लेखक, व्यापारी, बस उसका डंडा चलना चाहिए, पद-पैसे-आतंक का, जो हो मेरी सूझ खासी बेवकूफ़ाना थी, पर ज़िंदगी में दो-एक बार बेवकूफ़ी करना लाज़िमी ठहरा।

तो अगले डेढ़ साल, मैंने स्कूल के प्रबंधकों की ज़िंदगी अज़ाब बनाए रखी। हर दूसरे-तीसरे दिन, पाँव-पैदल वहाँ जा पहुँचूँ और उस बच्चे के दाखिले की माँग करूँ। उन्होंने पूछा, आपकी बच्चे में क्या दिलचस्पी है, तो मैंने कहा, वह बहरा है, आप बहरों के लिए स्कूल चलाते हैं, मेरी दिलचस्पी आप दोनों को मिलाने में है। उन्होंने कहा, क्या आप उसे पढ़ाएँगी? मैंने कहा, नहीं आप पढ़ाएँगे। उन्होंने कहा, और होमवर्क कौन करवाएगा, माँ-बाप तो अनपढ़ हैं। मैंने कहा, आपके यहाँ पढ़ाई इतनी अच्छी होगी कि होमवर्क वह खुद कर लेगा। हफ़्ते में तीन बार ऐसी बातें सुननी-सुनानी पड़ें, ऊपर से हर भेंट के अंत में यह जुमला, आप अक्षम बच्चों के लिए स्कूल चलाते हैं न, उसकी अक्षमता दुहरी है, बहरेपन पर गरीबी की। उसका दुहरा हक बनता है। दाखिला उसे मिलना ही चाहिए। तो ज़िंदगी अज़ाब होगी न?

डेढ़ साल तक उस मंत्र का जाप सुनने के बाद, स्कूल के प्रबंधक इस बात पर राज़ी हुए कि बच्चा स्कूल-दाखिले का टेस्ट दे दे। पास होगा तभी लेंगे, यह चेतावनी देना वे न भूले। डेढ़ साल का वक्फ़ा आप जानिए, कम नहीं होता। तब तक कई विशेषज्ञ उसे तालीम दे चुके थे। एक के बजाय 'कई' इसलिए, क्योंकि बच्चे की खातिर कोई उसे पढ़ाने को तैयार न हुआ था। मुझ पर एहसान जताने और खुद को समाजसेवी जतलाने के लिए दम भरा था, सो जल्दी ही फूल गया। दो-एक महीने में हर आदमी पस्त होता रहा। पर अपना काम बन गया। किस्तों में सही, बच्चा टेस्ट देने लायक हो गया। पास होने लायक बनाने में कुछ मदद स्कूल की मनोविश्लेषक ने कर दी। मुझे पुराने प्रश्न-पत्र दिखलाकर समझा दिया, उसे क्या तैयारी करनी होगी। वह टेस्ट, उत्तम अंकों से पास कर गया। मुझे यह जानकारी गैर-दफ़्तरी स्रोत से मिली तो, तब तक, साँस बीच में अटकी रही, जब तक महाप्रबंधक का खुद फोन न आ गया। उन्होंने गंभीर, धर्माभिमानी स्वर में कहा, "बहुत सोच कर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि वह बच्चा दुहरी अक्षमता का शिकार है। बहरा है और गरीब भी। समाज के अक्षम लोगों की सेवा करना हमारा कर्तव्य है। इसलिए हमने तय किया है कि उसे स्कूल में दाखिला दे दें। मैं इंतज़ार करती रही कि वे कहेंगे, 'फिर टेस्ट में वह उत्तम अंकों से पास हुआ है।' पर उन्होंने नहीं कहा। इतना ज़रूर कहा, मैं समझ गया था, आप पत्रकार या समाजसेवी हैं। और कोई इतना..."

"खर दिमाग नहीं होता", मैंने उनका वाक्य पूरा कर दिया। वे हँसे, बोले, "हम लोग जिस तरह महसूस करते हैं, समाज के लिए, सब नहीं करते।" जै-जै, मेरी भी जै आपकी भी जै। देखा आपने, समाजसेवी का दिखावा कैसे रंग लाया। मैं शुरू से ही समझ रही थी कि उस बच्चे को दाखिला तभी मिल सकता है जब महाप्रबंधक मेरे कहे को अपने दिमाग की उपज मान लें। इसीलिए मंत्रोच्चारण किए जा रही थी।

दरअसल, यह वाकया दिल्ली की उजली तस्वीर पेश करता है। अब बीस-पच्चीस साल यहाँ रह लेने पर, मैं सोच भी नहीं सकती थी किसी स्कूल में सिफ़ारिश के बिना, अज्ञात कुल-दीपक का दाखिला करवाया जा सकता है। स्कूल तो स्कूल, आज तक मैं खुद को सरकारी अस्पताल, ऑल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट में दाखिल नहीं करवा पाई। एक बार मंजुल भगत को करवाने की कोशिश की थी पर उनका कहा, "कमरे के लिए राजनीतिक दबाव का बंदोबस्त कर रखिए" सुना और सुनते ही हौसले पस्त हो गए। मंजुल, बिना सरकारी मदद, जीं और मरीं। अपना भी वही इरादा है।

'दिल्ली की बला से'।

खेल और सेंध में माहिर दिल्ली लीक से हटकर चलने को प्रश्रय नहीं देती। कला और साहित्य में भी नहीं। गुज़रे ज़माने में भले देती रही हो। आखिर मिर्ज़ा ग़ालिब जैसा, पटरी से उतरा शायर, यहाँ का बाशिंदा था। और 'माना कि रहें दिल्ली में पर खाएँगे क्या', पूछने के बावजूद इसकी गलियाँ छोड़ कहीं गया न था। हो सकता है, मिर्ज़ा समझ गए हों कि पटरी से उतरने का मज़ा तब है जब ज़्यादातर लोग पटरी पर लदे रहें और आपके लिए भटकने को रास्ते खुले पड़े हों। एक बार भीड़ पटरी से उतर कर, आपकी राह आ लगे तो समझिए, वही पटरी बन गई और आप उसमें हिल-मिलकर, गए काम से। मुख्यधारा बड़ी ज़ालिम शै होती है। आपको हाशिए पर छोड़ दे तो आप रोते फिरें, और बाँहें फैलाकर उनमें समा ले तो लिख न पाएँ।

अपनी कहूँ तो बचपन में लिखी, पहली-पहली कहानी ही, मुख्यधारा के हाथों कत्ल हो गई थी। मैं तब दसवीं जमात में पढ़ती थी, हिंदी की टीचर ने भिखारी की आत्मकथा लिखने को कहा था। मेरा भिखारी, एक लेखक था, जो दिन में भीख माँगता था, रात को लिखता था। भिखारी का पेशा अख्तियार किया था इसलिए, क्योंकि लेखन से कुछ मिलता-मिलाता न था और भीख के सहारे, ज़िंदगी चल जाती थी। दो नावों पर सवार, वह भिखमंगा-लेखक खासा खुश था। पर उसकी कहानी पढ़कर बहन जी खुश न हुईं। डाँट कर बोलीं, "मृदुला खड़ी हो जाओ, तुमने लेखक और भिखारी, दोनों का अपमान किया है।" एक का तो समझ में आया, दोनों का कैसे हो सकता है। मैंने तर्क झाड़ा। "अब गुरु का भी हो गया," उन्होंने कहा, और जो-जो कर सकती थीं, किया। शायद उसी के चलते, मैंने अगले बीस साल कोई कहानी नहीं लिखी। लिखी तो तब, जब मुख्यधारा को अँगूठा दिखलाने की हिम्मत जुटा चुकी थी।

गनीमत यह है कि दिल्ली में पटरी से उतरकर जीने वालों की परंपरा, मिर्ज़ा गालिब के साथ खत्म नहीं हुई। कुछ लोग उसे अब तक चलाए जा रहे हैं। उन्हीं के सहारे हम दिल्ली से पूरी तरह बेज़ार न हो पाए और बेदिली से दिल्ली में रहते और लिखते चले आए। मेरे स्कूल की प्रधानाचार्या थीं, जो तीन साल तक मुझे स्कूल जाए बिना, सालाना इम्तिहान देने की अनुमति देती रहीं और पास होने पर, अगली जमात में भेजती रहीं। नई कक्षा में नया साल शुरू होते ही, मैं अगस्त में बीमार पड़ जाती थी और मार्च में इम्तिहान शुरू होने पर, स्कूल जाने लायक होती थी। बीमारी कितनी शारीरिक थी और

कितनी मनोवैज्ञानिक, यानी पाखंडभरी, कही नहीं जा सकती। हो सकता है पाठ्यपुस्तकें छोड़ अन्य किताबें पढ़ने का मोह, रोग बनता रहा हो। अंग्रेज़ी की वे टीचर थीं, जिन्होंने बोर्ड के इम्तिहानों से पहले, तैयारी की मिली छुट्टी में, मुझसे नाटक करवाया कि दिमाग के मकड़जाल निकल जाएँगे। निकले ज़रूर, साथ में इम्तिहान में अपेक्षित कुछ अंक भी।

बाद के दिनों में ऐसा ही एक लेखक मिला। उसे यकीन था चूँकि समाज ने उसके साथ बुरा बर्ताव किया, इसलिए उसे पूरा हक था कि वह, उसकी कीमत, समाज के किसी भी सदस्य से वसूले। इस बिना पर, वह जिस-तिस से, इस अंदाज में पैसे वसूला करता था, जैसे उनका अपराध-बोध कम करके, उन पर एहसान कर रहा हो। मेरे पिता थे, जो असूलन, हर नियम और उसे बनाने वाले से उलझ पड़ते थे। और सबसे ऊपर थीं मेरी माँ, जो एक आदर्श हिंदुस्तानी माँ और बीवी की तरह सिफ़र थीं। न उन्होंने कभी पकाया-खिलाया, न हमें दुलराया-सहलाया। पर हमारी राज़दां ज़रूर बनीं और हमें साहित्य पढ़ना सिखलाया। हमारे हाथों में किताबें देकर नहीं, घर-बार के कामों को नकार कर, खुद पढ़ने में मुब्तिला रह कर। इन तमाम लोगों से और सबसे ज़्यादा माँ से, हमारा फ़ायदा यह हुआ कि, हम लीक से हटे नमूनों को बर्दाश्त करना और समझना सीख गए। वही सब लोग, चुपके से, मेरे कथानकों में भी आ घुसे। अलग-अलग, ज्यों के त्यों नहीं, आपस में गड्डमड्ड होकर। क्या हम अपने पर हँसे होंगे और क्या हमारे किरदार, जो दिल्ली हम पर हँसी। न लगाओ दिल तुम शहर दिल्ली से, शहर हर हाल में तुम्हारे ज़ेहन और अदब में घुस कर रहेगा। वाह-वाह न सही, हाय-हाय सही, रहोगे मुखातिब दिल्ली से ही। जितना नकारोगे, दुतकारोगे, उतना ही चोर दरवाज़े से भीतर घुसता रहेगा। यह मेरे साथ ही हुआ और बराबर हो रहा है, वरना इस वक्त मैं दिल्ली का रोना क्यों रो रही होती!

सन 1947 में मुल्क के तक्सीम होने के बाद, मुहाज़िरों की दिल्ली में जो आमद हुई, उसने उसकी चाल को बिलकुल बदल दिया। घोड़े की तरह, शहर की असलियत भी, उसकी चाल की रफ़्तार से जानी जाती है, ऊपरी ठाठ-बाट, चेहरे-मोहरे से नहीं। खान-पान, कपड़े-ज़ेवरात, नाच-गाने, तीज-त्योहार, ये सब तो अजायबघरी तमाशे थे, असल चीज़ है गति। रफ़्तार। खरामा-खरामा चलने और भागमभाग दौड़ने का फ़र्क ही असली फ़र्क है। और वही फ़र्क 1947 में घटकर, दिल्ली को नया अवतार दे गया।

विभाजन के बाद, विस्थापित लोगों के काफ़िले दिल्ली आए और यहीं बस गए। दिल्ली से उखड़ कर जाने वाले कम थे, अपनी ज़मीन से बेदखल होकर दिल्ली आने वाले ज़्यादा। उखड़ कर आए लोग, जब नई ज़मीन पर बसते हैं तो उनका काम, सुस्त चाल से नहीं चलता। जो सुरक्षा और सम्मान, अपनी धरती पर, सोए-सोए मिल जाता है, वह पराई ज़मीन पर ज़बरदस्त मेहनत-मशक्कत और जद्दोजहद के बाद मिल पाता है। इसलिए शरणार्थियों की मानसिकता हमेशा आक्रामक और बाज़ार से साँठ-गाँठ करने वाली रहती है। जड़ों से कटने पर, परिवार के अलावा अपना कहने को, सिर्फ़ द्रव्य और वस्तु बचती है, सो उन्हीं का संचय करने में जुट जाते हैं । यहीं दिल्ली वाले मात खा गए। न वे आने वालों पर अपनी कछुआ चाल थोप सके, न उनकी हमलावरी रफ़्तार को आत्मसात कर सके। गति के सांस्कृतिक हमले में, वे परास्त तो हुए पर हार कर भी, नई चाल के न बन पाए। न नए को गले लगाया, न पुराने को कलेजे से लगाए रख सके। इस तरह नए और पुराने के बीच बँट-बँट कर अधपगले से हो रहे। यूँ दिल्ली वाले दिल से गए दिल्ली में और आने वाले, बिना दिल लगाए, कमाई के सहारे, दिल्ली वाले बनते गए।

दिल्ली का मध्यवर्ग, चाहे जितनी बढ़ोत्तरी करे, आम शहरियों की संख्या, उससे तेज़ रफ़्तार में बढ़ रही है। सबके सब यहाँ पैदा नहीं होते। दूर-पास के गाँव-कस्बों से भाग कर आते हैं। अपनी खुशी से नहीं। भुखमरी और बेरोज़गारी के धक्के खाकर। अपना दिल वे वहीं छोड़ आते हैं, परिवार के चंद बूढ़ों और नामचारे की पैतृक ज़मीन के साथ। शरणार्थी ये भी हैं, पर 1947 में आए शरणार्थियों से भिन्न। ये जहाँ पहले रहते थे, वहाँ भी, बरसों से हाशिए की तरफ़ धकेले जाते रहे थे। जब उसमें से भी निकाल दिए गए तो, कहीं और जाकर, किसी और हाशिए में टिके रहकर, आधा-पौना काम पाने के अलावा, कोई महत्त्वाकांक्षा मन में नहीं पाली। न पहले सोए-सोए, मान-सम्मान मिल रहा था, न अब मेहनत-मशक्कत कर लेने पर पाने की उम्मीद है। इसीलिए दिल्ली के हाशिए में, सड़क पर छप्पर तान कर जिए जाते हैं। एक और फ़र्क यह है कि इनका नाता अपनी जड़ों और ज़मीन से टूटता नहीं। शायद असल फ़र्क यही हो। साल में एक बार ये लोग, अपनी न हो तो दूसरों की फ़सल काटने के बहाने, पुरानी ज़मीन पर जा, अपना दिल दुबारा ज़िंदा कर, लौट आते हैं। दिल्लीवालों की तरह हाशिए में टिके लोग, दिल से महसूसना नहीं भूलते।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. लेखिका लेखन कार्य में कब प्रवृत्त हुईं?
2. स्कूल के महाप्रबंधक ने लेखिका को यह क्यों नहीं बताया कि परीक्षा में बच्चे के अच्छे अंक आए हैं?
3. लेखिका की हिंदी टीचर उसकी पहली कहानी पर क्यों क्रुद्ध हुई?

लिखित

1. लेखिका कल्पनालोक में विचरण करने को जीवन के दुखों से बचने का 'बेहतर पाखंड' क्यों मानती है?
2. यथार्थवादी और कलावादी साहित्यकारों पर क्या टिप्पणी की गई है?
3. लेखिका के पात्र दिल्ली में बसे होकर भी दिल्ली के क्यों नहीं हो पाए?
4. अपनी आदर्शवादिता को लेखिका ने बेवकूफ़ी क्यों कहा है?
5. मूक-बधिर बालक को विद्‌यालय में प्रवेश दिलाने में लेखिका को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?
6. आजकल के लेखकों की प्रवृत्ति पर लेखिका ने क्या व्यंग्य किया है?
7. लीक से हटकर चलने की फ़ितरत लेखिका में कैसे आ गई?
8. 'न नए को गले से लगाया, न पुराने को कलेजे से लगाए रख सके'— यह वाक्य दिल्ली की किस सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति पर करारी चोट करता है?
9. 'दिल्लीवालों की तरह हाशिए में टिके लोग दिल से महसूसना नहीं भूलते'— इसमें 'हाशिए में टिके लोग' से किनकी ओर संकेत है और उनकी तुलना दिल्लीवालों से क्यों की गई है?
10. प्रमाण देकर सिद्‌ध कीजिए कि दिल्ली को भुलाने का दावा करने वाली लेखिका के अवचेतन मन में दिल्ली रची-बसी है।
11. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
    (क) ज़िंदगी ऐसी बला है कि जीते चले जाओ तो सब कुछ रोज़नामचा बन जाता है। दुख, पीड़ा, जोखिम, प्रेम सब। इस क्षुद्र बनाने के खेल में दिल्ली माहिर है।
    (ख) यहीं दिल्ली वाले मात खा गए। न वे आनेवालों पर अपनी कछुआ चाल थोप सके न उनकी हमलावरी रफ़्तार को आत्मसात कर सके। गति के सांस्कृतिक हमले में, वे परास्त तो हुए पर हार कर भी नई चाल के न बन पाए।

योग्यता-विस्तार

प्रस्तुत लेख में अरबी-फ़ारसी मूल के शब्दों का काफ़ी प्रयोग हुआ है। इन शब्दों को छाँटकर उनके हिंदी पर्याय चार्ट पर लिखिए और उसे कक्षा में लगाइए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

इत्तिफ़ाक	-	संयोग
कलम घिसना	-	साहित्य-सृजन
हेरवा करना	-	भावुकता का दिखावा, लगाव का प्रदर्शन, याद करना
रिहायशी बस्ती	-	लोगों के रहने का स्थान
वरगलाना	-	बहकाना, धोखा देना
फंतासी	-	कल्पना
रोज़नामचा	-	डायरी, जिसमें रोज़ की घटनाएँ दर्ज की जाती हैं
सेंध	-	वह छेद जो चोर दीवार तोड़ने के लिए बनाते हैं
यथार्थवादी कलेवर	-	जीवन के वास्तविक सच को बताने वाले रूप
फ़ितरत	-	प्रवृत्ति
परिमार्जित	-	माँजा हुआ, निखरा हुआ
गुरु गंभीर	-	बहुत गंभीर दिखने-दिखाने का भाव
तिलांजलि देना	-	समाप्त कर देना, मृत्यु के पश्चात दिया गया तर्पण
क्षुब्ध	-	दुखी
बिसात	-	हैसियत
मूक-बधिर	-	गूँगे-बहरे
अज़ाब	-	परेशानी में डालना, गुनाह की सज़ा
वक्फ़ा	-	ठहराव, विराम
खर दिमाग	-	जुनूनी, ज़िद्दी
शै	-	बात
इस बिना पर	-	इस आधार पर
असूलन	-	उसूलों के अनुसार, सिद्धांतों के अनुसार
सिफ़र	-	शून्य, बेकार
मुब्तिला	-	लगे रहना, संलग्न रहना, व्यस्त
ज़ेहन	-	दिमाग
अदब	-	साहित्य
तक्सीम	-	विभाजन
अजायबघरी	-	अजीबो-गरीब
विस्थापित	-	शरणार्थी
जद्दोजहद	-	प्रयत्न, दौड़-धूप
नामचारे	-	नाम के लिए

9 ओमप्रकाश वाल्मीकि
(जन्म 1950)

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म बरला, ज़िला मुज़फ़्फ़र नगर (उ.प्र.) में हुआ। उनका बचपन सामाजिक एवं आर्थिक कठिनाइयों में गुज़रा। शिक्षा प्राप्त करने में उन्हें अनेक आर्थिक, सामाजिक और मानसिक कष्ट झेलने पड़े। उन्होंने हिंदी में एम.ए. की डिग्री प्राप्त की।

वाल्मीकि जी कुछ समय तक महाराष्ट्र में रहे। वहाँ वे दलित लेखकों के संपर्क में आए और उनकी प्रेरणा से डॉ. भीमराव अंबेडकर की रचनाओं का अध्ययन एवं चिंतन-मनन किया। इससे उनकी रचना दृष्टि में बुनियादी परिवर्तन हुआ। आजकल वे देहरादून की आर्डिनेंस फैक्टरी में अधिकारी के पद पर कार्यरत हैं।

हिंदी में दलित साहित्य के विकास में ओमप्रकाश वाल्मीकि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने अपने लेखन में जातीय अपमान और उत्पीड़न का वर्णन किया है और भारतीय समाज के कई अनछुए पहलुओं को पाठकों के सामने रखा है। वे मानते हैं कि दलित ही दलित की पीड़ा को बेहतर ढंग से समझ सकता है तथा वही उस अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति कर सकता है। उन्होंने सृजनात्मक साहित्य के साथ-साथ आलोचनात्मक लेखन भी किया है। भाषा उनकी सहज, तथ्यपरक और आवेगमयी है। व्यंग्य का गहरा पुट भी उसमें देखा जा सकता है। नाटकों में अभिनय और निर्देशन में भी उनकी रुचि है। अपनी आत्मकथा ***जूठन*** *के कारण उन्हें हिंदी साहित्य में पहचान और प्रतिष्ठा मिली। वाल्मीकि जी को* ***डॉ. अंबेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार*** *(1993) और* ***परिवेश सम्मान*** *(1995) से सम्मानित किया जा चुका है।*

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं — ***सदियों का संताप, बस! बहुत हो चुका*** *(कविता संग्रह);* ***सलाम*** *(कहानी संग्रह);* ***जूठन*** *(आत्मकथा)।*

प्रस्तुत पाठ उनकी आत्मकथा ***जूठन*** *से लिए गए दो अंशों पर आधारित है। प्रथम अंश में उन्होंने अपने अध्ययन काल के अनुभवों तथा जातिगत अपमान की असह्य पीड़ा का मार्मिक वर्णन किया है। दूसरे अंश में समाज में हो रहे सकारात्मक परिवर्तनों का ज़िक्र है जहाँ जातीय दंश उत्तरोत्तर कम होता गया है। इस अंश में उनके हिंदी साहित्य के अध्ययन तथा साहित्य सृजन की ओर प्रवृत्त होने का भी उल्लेख है।*

मेरी जीवनयात्रा : दो चित्र

बस अड्डे से कॉलेज लगभग डेढ़ मील की दूरी पर था। कॉलेज में लड़कियों की संख्या पाँच-छह से ज़्यादा नहीं थी। वे भी संपन्न परिवारों से थीं। एक-दो लड़कियाँ अध्यापकों की थीं। लड़कों में भी अधिक संख्या त्यागियों की थी। दलित परिवारों से इक्का-दुक्का ही पढ़ने आते थे।

बाबूराम त्यागी बरला के ही रहनेवाले थे। एक अच्छे शिक्षक थे। उनका स्नेह और मार्गदर्शन मुझे कई बार मिला। अक्सर वाद-विवाद में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित करते थे।

वे हमें हिंदी पढ़ाते थे। मेरी भाषा में उन्होंने कई सुधार किए थे उन दिनों। भाषा में जो रुचि विकसित हुई, उसका श्रेय बाबूराम जी को जाता है। वे मेरे प्रेरणास्रोत थे।

सन 1962 के जुलाई-अगस्त की बात है। मैं आठवीं कक्षा में पहुँच चुका था। सातवीं कक्षा अच्छे अंकों से पास की थी। पूरी कक्षा के चार अच्छे विद्यार्थियों में मैं एक था।

एक दिन मैं घर से स्कूल जाने के लिए कुछ जल्दी ही निकल पड़ा था। घर में कोई घड़ी तो थी नहीं, अंदाज़ से ही निकलते थे। पक्की सड़क पर, स्कूल जानेवाला शायद उस समय मैं अकेला था। मेरे पीछे-पीछे सूरजभान तगा का बेटा बृजेश आ रहा था। मुझसे उम्र में काफ़ी बड़ा था। उसके काँधे पर एक लंबी-सी लाठी थी। शायद खेत पर जा रहा था। मुझे देखते ही उसने कुछ बड़बड़ाना शुरू किया। मैं अनसुना करके चलता रहा। कोठी (नहर विभाग का निरीक्षण भवन) के पास पहुँचते ही उसने आवाज़ दी। स्कूल थोड़ी-सी दूर रह गया था, "अबे ...रुक जा।"

मैंने मुड़कर उसकी ओर देखा, उसके चेहरे पर शैतानी झलक रही थी। मेरे करीब आकर वह बोला, "...तेरे तो सचमुच सींग निकल आए हैं। तू तो बड़ी शेखी में रहता है। तेरी तो चाल ही बदल गई है।"

बिना उत्तर दिए मैं जाने लगा तो उसने आगे बढ़कर मेरा रास्ता रोक लिया। डाँटते हुए बोला, "सुणा है, तू पढ़ने में हुशियार है।" उसने लाठी का एक सिरा मेरे पेट में गाड़

दिया था, "करके हमें भी तो दिखा तू कितना हुशियार है!" वह झगड़े पर उतारू था। मैं झगड़े से बचना चाहता था। मुझे चुप देखकर वह फिर गुर्राया, "कितना भी पढ़ लियो, रहेगा तो वही..." उसने मुझे लाठी से धकियाया। मैं गिरते-गिरते बचा, लेकिन मेरा झोला ज़मीन पर गिर पड़ा था। उसने उस झोले को लाठी में फँसाकर ऊपर उठा लिया और गोल-गोल घुमाने लगा। मैं उसके आगे गिड़गिड़ा रहा था, "मेरी किताबें बिखर जाएँगी...मेरा झोला दे दो...कापियाँ फट जाएँगी..."। वह नहीं माना और ज़ोर से घुमाकर उसने झोला दूर फेंक दिया। मैं उठाने के लिए दौड़ा तो वह कहकहे लगाकर हँसने लगा। मेरा झोला सड़क किनारे खाई में गिर गया था, जहाँ पानी और कीचड़ भरा हुआ था। झोला निकालने में कॉपियाँ भीग गई थीं, जिन्हें देखकर मुझे रोना आ गया था।

स्कूल के नल पर मैंने हाथ-पाँव धोए थे। किताबें, कॉपियाँ धूप में सुखाई थीं। मेरा मन बहुत दुखी हो गया था उस रोज़। लग रहा था जैसे पढ़ना-लिखना अपने हिस्से में नहीं है। लेकिन पिता जी का चेहरा सामने आते ही उनकी बातें याद आने लगीं थीं — पढ़-लिखकर जाति सुधारनी है।

उस रोज़ किसी भी पीरियड में मन नहीं लगा था। सुबह की घटना रह-रहकर कचोट रही थी।

पहली जुलाई 1968 की शाम पाँच और छह बजे के बीच हम रेलगाड़ी से जबलपुर स्टेशन पर उतरे थे। स्टेशन पर ही हमें आर्डिनेंस फैक्टरी ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट के छात्र मिल गए थे। वे हमें लेने आए थे। उनके मिल जाने से हमने राहत की साँस ली थी। वरिष्ठ छात्र हमें बेहद आत्मीयता से छात्रावास लेकर आए थे। कमरों का आवंटन पहले से तय था। मुझे हॉस्टल नं. 1 के कमरा नं. 3 में जगह मिली थी।

प्रशिक्षण संस्थान के छात्रावास में आकर मैंने एक नई दुनिया से साक्षात्कार किया था। ऐसा बहुत कुछ था जो मेरे लिए अजूबा था। रहने-खाने की चिंता नहीं थी। उन दिनों लगभग दो सौ छात्र थे हॉस्टल में। खूब चहल-पहल थी। हॉस्टल की शाम हलचलों से भरी हुई होती थी। वृक्षों के झुरमुट में चिड़ियों की चहचहाहट शाम होते ही गूँजने लगती है, वैसे ही गाना-बजाना, खेल-कूद, हँसी-मज़ाक से लेकर तरह-तरह की गतिविधियों से छात्रावास जीवंत हो उठता था।

हॉस्टल एक शांत जगह पर था जिसके एक ओर आर्डिनेंस फैक्टरी, खमरिया थी, तो दूसरी ओर गेरिसन अभियंता का कार्यालय, मुख्य मार्ग और हॉस्टल के बीच संस्थान का मुख्य भवन, ऑडिटोरियम आदि थे। आवासीय क्षेत्र काफ़ी फ़ासले पर था। हॉस्टल के पीछे एक बड़ा-सा नाला बहता था जो हॉस्टल को आवासीय क्षेत्र से अलग कर देता था।

प्रशिक्षण संस्थान में एक बँधी-बँधाई दिनचर्या थी। सुबह उठते ही साढ़े सात बजे प्रशिक्षण संस्थान की वर्कशॉप जाना पड़ता था। यह वर्कशॉप आर्डिनेंस फैक्टरी के भीतर ही स्थित थी।

सुबह सात बजे चाय-नाश्ता मिल जाता था। दोपहर बारह बजे खाना। उसके बाद एक बजे से शाम साढ़े चार बजे तक संस्थान के मुख्य भवन में तकनीकी शिक्षा के लिए कक्षाएँ होती थीं जिसमें इंजीनियरिंग से संबंधित तकनीकी ज्ञान दिया जाता था।

परस्पर सहयोग के आधार पर छात्रों की एक मैस समिति ही मैस का प्रबंधन करती थी। फिर भी खाने को लेकर अक्सर लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। वरिष्ठ छात्रों की मनमानी भी ऐसे समय में उभर आती थी।

अक्सर रोटियों के कच्चा होने की शिकायत छात्र करते थे। कभी-कभार मारपीट की नौबत भी आ जाती थी। कच्ची रोटियों को लेकर विजय बहादुर और मेरा नज़रिया दूसरों से भिन्न था। मैं कभी शिकायत नहीं करता था। विजय बहादुर जब रोटियों को बरबाद करते किसी को देख लेता था, तो वह अपने गुस्से को रोक नहीं पाता था, "ओए, खोत्ते! तू इस रोट्टी की कीमत नी जाणता! इसे खेत में उगाने में कितनी मेहनत लगती है...तुझे पता है।" उसके इस संवाद को सुनकर कोई भी रोटी फेंकने की हिम्मत नहीं करता था।

सचमुच रोटी की कीमत किसान से ज़्यादा और कौन जान पाएगा! विजय बहादुर पंजाब के किसान परिवार से था। मैंने बचपन से रोटी को बहुत मूल्यवान वस्तु माना है, इसे बरबाद करनेवाले लोग मुझे अपराधी लगते थे।

छात्रावास के दिन कुछ लोगों के लिए मस्ती भरे दिन थे, मेरे लिए व्यक्तित्व निर्माण के।

उन्हीं दिनों प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' पढ़ने को मिल गई थी जिसे पढ़कर ऐसा लगा जैसे शतरंज एक घातक बीमारी है, जिसमें डूबकर लोग अपने घर,

परिवार, देश, राज्य तक की सुध-बुध भूल जाते हैं। उफ्! क्या कहानी थी... उस कहानी को पढ़कर मैं कई दिन बेचैन रहा था। असर यह हुआ कि मैं इस खेल से दूर रहने लगा।

हॉस्टल में सभी के पास अपने बिस्तर थे। लेकिन मेरे पास कोई बिस्तर नहीं था। लोहे की चारपाई और एक-एक कुरसी सभी को मिली थी। मेज़ का काम दीवार के साथ लगी छोटी अलमारी से चल जाता था। हॉस्टल में पहुँचते ही सबसे पहले बिस्तर की समस्या मेरे सामने आई थी।

मेरे पास एक सस्ता-सा सूटकेस था जिसमें नाम मात्र के कपड़े थे। कुछ पढ़ने-लिखने की सामग्री थी। काफ़ी दिनों तक मैं और विजय बहादुर एक ही बिस्तर पर सोए थे। लगभग महीने-भर बाद राँसी के एक दुकानदार से कपड़ा लेकर एक गद्दा बनवाया था। गद्दे की कीमत हर महीने थोड़ी-थोड़ी करके चुकाई। प्रशिक्षण के दौरान जो भत्ता मिलता था उससे मैस का खर्च निकालकर जो थोड़े पैसे बचते थे उनसे ही बाकी खर्चे पूरे होते थे। बहुत ही तंगी के दिन थे। अन्य साथियों की तरह मौज-मस्ती करने की स्थिति मेरी नहीं थी। मेरी कोशिश रहती थी कि हर महीने भत्ते में से कुछ पैसे बच जाएँ ताकि मैं पिता जी को मनीआर्डर कर सकूँ।

कुछ मार्क्सवादी विचार के लड़के भी थे। उनके संपर्क में आकर ही मैं मार्क्सवादी साहित्य पढ़ पाया था। विशेष रूप से गोर्की के 'माँ' उपन्यास ने मुझे झकझोर दिया था। चेखव की कहानियों से भी परिचय हुआ था। इन लड़कों के साथ मिलकर मैंने एक थियेटर ग्रुप बनाया था। छात्रावास में नाटकों का पूर्वाभ्यास होता था। संस्थान के ऑडिटोरियम में कई शो भी किए थे।

कविताएँ भी इन दिनों मैं लिखने लगा था। मेरे बराबर के कमरे में गोविंद मौर्य नाम का एक छात्र था, जो हर वक्त पुस्तकों में डूबा रहता था। राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' उन दिनों खासा चर्चित था। गोविंद मौर्य ने ही मुझे पढ़ाया था। यशपाल का 'झूठा-सच' रात-रात भर जागकर पढ़ा था।

जिस रोज मैं छात्रावास में पहुँचा था, मेरी मेज़ के ड्रॉअर में रखी 'सारा आकाश' (राजेंद्र यादव) की प्रति मिली थी। मैं पूरे दो वर्ष उस कमरे में रहा और कई-कई बार उस उपन्यास को पढ़ा। मध्यवर्ग पर इससे बेहतर रचना मेरी नज़र से नहीं गुज़री। मैंने ही नहीं और कई लोगों ने इस उपन्यास को उन दिनों पढ़ा था। उन्हीं दिनों छोटे-छोटे एकांकी लिखकर उनका मंचन करना भी मैंने शुरू कर दिया था। मैं स्वयं अभिनय एवं

निर्देशन भी करने लगा था। उन दिनों रंगकर्म की यह मेरे लिए शुरूआत थी। खमरिया (जबलपुर) में एक चर्चित रंगकर्मी थे — श्री वर्मा जी। उनके निर्देशन में मैंने कई नाटक किए थे। एक छाया-नाटक भी किया था गांधी शताब्दी के अवसर पर, जिसका प्रदर्शन खमरिया के बड़े मैदान में हुआ था।

विजय बहादुर सोल और मैं एक ही कमरे में रहते थे। हम दोनों ने तय कर लिया था कि कुछ करना है। ए.एम.आई.ई. (इंजीनियरिंग) प्राइवेट परीक्षाओं से पास की जा सकती थी। हम दोनों फ़ार्म लेकर आ गए थे। लेकिन फ़ीस भरने लायक पैसे मेरे पास नहीं थे। मैंने फ़ार्म नहीं भरा। विजय ने कहा भी था, "यार, तू कहे तो मैं अपने बापू से माँग लेता हूँ।" मैंने मना कर दिया था। यानी एक बार फिर पढ़ाई जारी रखने के मंसूबों पर पानी फिर गया था।

जबलपुर की साहित्यिक गतिविधियों से मैं जुड़ गया था। साहित्य के प्रति मेरा नज़रिया भी बनने लगा था। कलावादी रचनाओं की जगह जनवादी सोच आकर्षित करती थी।

गाँव से पिताजी के हर पत्र में शादी के लिए 'हाँ' कर देने का आग्रह होता था। उन्हें लग रहा था, मेरी उम्र बढ़ रही है। इतने दिनों में तो लड़के बाप बन जाते हैं। मैं इनकार करता आ रहा था। मैं गृहस्थी के चक्कर से दूर रहना चाहता था। मुझसे दो वर्ष छोटी बहन माया की शादी तीन वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

दो वर्ष काफ़ी व्यस्तता में गुज़रे थे। ट्रेनिंग भी सुव्यवस्थित चल रही थी। संस्थान में मेरी एक पहचान बन गई थी। हॉस्टल में 'जाति' को लेकर साथियों में कुछ विशेष ऐसा नहीं था जो तकलीफ़देह हो। हाँ, कभी-कभी दिल्ली, मुरादनगर के साथी छींटाकशी ज़रूर कर देते थे। देहरादून और मेरठ के लोगों के अलावा किसी को भी पता नहीं था कि मेरी जाति क्या है जबकि मेरे नाम के साथ 'वाल्मीकि' उपनाम जुड़ा हुआ था।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. लेखक अपने शिक्षक बाबूराम त्यागी को प्रेरणास्रोत क्यों मानता था?
2. पढ़ाई के संबंध में लेखक के पिता का कौन-सा वाक्य उसके लिए प्रेरणा बन गया?

3. परस्पर सहयोग के आधार पर बनी छात्रों की मैस समिति में लड़ाई-झगड़े क्यों होते रहते थे?
4. मैस में कोई भी कच्ची रोटियों को फेंकने की हिम्मत क्यों नहीं जुटा पाता था?
5. फ़ीस के पैसे न होने पर भी लेखक विजय बहादुर के बापू से पैसे मँगवाने को क्यों तैयार नहीं था?

लिखित

1. बृजेश ने लेखक के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया और क्यों?
2. प्रशिक्षण संस्थान के छात्रावास का वातावरण लेखक को आश्चर्यजनक क्यों लगा?
3. लेखक और विजय बहादुर को कच्ची रोटियाँ भी फेंकना बुरा क्यों लगता था?
4. लेखक शतरंज के खेल से दूर क्यों रहने लगा?
5. अपनी आर्थिक स्थिति के कारण लेखक के सामने क्या-क्या समस्याएँ आईं?
6. प्रशिक्षण काल में लेखक किन-किन साहित्यिक गतिविधियों से जुड़ा रहा?
7. जबलपुर के प्रवास ने लेखक को किस प्रकार प्रभावित किया?
8. बचपन के कटु अनुभव से लेखक आगे चलकर किस प्रकार उबरा?
9. टिप्पणी कीजिए कि लेखक के जीवन के ये दो चित्र बदलती सामाजिक मानसिकता के परिचायक हैं।

योग्यता-विस्तार

1. 'जातिगत भेदभाव सामाजिक विकास में बाधक है' — इस विषय पर कक्षा में परिचर्चा का आयोजन कीजिए।
2. दलित वर्ग के उत्थान में डॉ. भीमराव अंबेडकर के योगदान के विषय में जानकारी प्राप्त कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

शेखी में रहना - घमंड में रहना, ऐंठ
आर्डिनेंस फैक्टरी - शस्त्र बनाने की फैक्टरी
ऑडिटोरियम - सभागार
मैस - भोजनालय
मनसूबे - इरादे
समसामयिक - समकालीन
कलावादी रचना - वे रचनाएँ जिनमें रचना के कला पक्ष पर ज़ोर होता है
जनवादी सोच - वह विचारधारा जो सामान्य जन की स्थिति का वर्णन करती है
छींटाकशी - ताने मारना

10 मिर्ज़ा ग़ालिब
(1797-1869)

मिर्ज़ा ग़ालिब का पूरा नाम मिर्ज़ा असद उल्लाह खाँ था। उनका जन्म आगरा में हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद उनका बचपन पहले चाचा और बाद में नाना के संरक्षण में गुज़रा। उनकी शिक्षा मुकम्मल तौर पर नहीं हो पाई थीं। आगरा में रहते हुए बचपन से ही वे फ़ारसी में शायरी करने लगे थे।

बाद में ग़ालिब उर्दू में भी शायरी करने लगे। अब तक वे दिल्ली आ चुके थे और अपने एक और नाम मिर्ज़ा नौशाह के नाम से जाने गए। मुगल राज्य की ओर से उन्हें 'नज्मुद्दौला', 'दबीरुलमुल्क' और 'निज़ाम-जंग' की उपाधियाँ दी गईं। सन 1850 के लगभग मुगल दरबार ने उन्हें मुगल वंश का इतिहास फ़ारसी में लिखने के लिए नियुक्त किया। उस्ताद ज़ौक की मृत्यु के बाद ग़ालिब बादशाह बहादुर शाह ज़फर के काव्य-गुरु हुए।

ग़ालिब को आमतौर पर उर्दू का सबसे बड़ा शायर कहा जाता है। फ़ारसी शायरी में भी उनका स्थान बहुत ऊँचा है। अपनी फ़ारसी कविता के बारे में ग़ालिब का यह अनुमान था कि वह उनके पाठकों को अधिक आनंदित करेगी किंतु उनकी उर्दू रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हुईं और चाव से पढ़ी गईं।

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं — **दिवान-ए-ग़ालिब** (उर्दू शायरी) और **ऊद-ए-हिंदी, उर्दू-ए-मुअल्ला** (पत्र संग्रह)।

ग़ालिब के पत्र हिंदी और उर्दू की मिली-जुली संपत्ति है। इन पत्रों की लिपि यद्यपि फ़ारसी है और जहाँ-तहाँ फ़ारसी के शब्दों का उपयोग भी इनमें किया गया है तथापि हिंदी व्याकरण और बोलचाल वाली हिंदी के लिहाज़ से ये पत्र हिंदी के प्रारंभिक खड़ी बोली रूप का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इन पत्रों का महत्त्व केवल उर्दू के लिए ही नहीं है, हिंदी गद्य के लिए भी उतना ही है। डेढ़ सौ वर्ष पहले हिंदी गद्य का इतना साफ़-सुथरा रूप अन्यत्र नहीं मिलता। खड़ी बोली की जो परंपरा आधुनिक काल में विकसित हुई, ये पत्र उसी परंपरा की कड़ी हैं और उर्दू-हिंदी के आरंभिक विकास को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं।

इन पत्रों में संजीदगी, साफ़गोई, आत्मीयता और अनौपचारिकता की खुशबू है। भाषा की सादगी और सरलता के साथ ही लिखने वाले की ज़िंदादिली भी यहाँ देखी जा सकती है।

यहाँ संकलित पहले पत्र में ग़ालिब जैसे महान शायरों की असाधारण संवेदनशीलता, प्रकृति-प्रेम, सामाजिक और परिवारिक रिश्तों की गहरी अनुगूँज मिलती है।

दूसरे पत्र में सन 1857 के बाद मेरठ और दिल्ली की तबाही, गोरों का आतंक और उस समय के भारी उथल-पुथल का वर्णन मिलता है, जिससे उस ज़माने का एक ऐतिहासिक नक्शा पाठकों को मिल जाता है। हमारे देश की भाषाओं में पत्र-साहित्य की कमी है। ग़ालिब के पत्र इस कमी को पूरा करते हैं।

ग़ालिब के पत्र

पत्र 1

भाई साहब,

मेह का यह आलम है कि जिधर देखिए, उधर दरिया है। आफ़ताब का नज़र आना बर्क़ का चमकना है, यानी गाहे दिखाई दे जाता है। शहर में मकान बहुत गिरते हैं। इस वक्त भी मेह बरस रहा है। खत लिखता तो हूँ, मगर देखिए डाकघर कब जावे। कहार को कमल उढ़ाकर भेज दूँगा।

आम अब के साल ऐसे तबाह हैं कि अगर बमुश्किल कोई शख्स दरख्त पर चढ़े और टहनी से तोड़कर वहीं बैठकर खाए, तो भी सड़ा हुआ और गला हुआ पाए। यह तो सब कुछ है, मगर तुमको तफ़्ता की भी कुछ खबर है। पितंबर सिंह उसका लाडला बेटा मर गया। हाय, उस ग़रीब के दिल पर क्या गुज़री होगी...।

तुम अब ख़त लिखने में बहुत देर करते हो। आठवें दिन अगर एक ख़त लिखते रहो, तो ऐसा क्या मुश्किल है!

यहाँ दोनों लड़के अच्छी तरह हैं। अब वहाँ के लड़कों की ख़ैर-आफियत लिखिए।

26 जुलाई 1855 ई. असद

पत्र 2

सैयद साहिब,

न तुम मुजरिम, न मैं गुनहगार, तुम मजबूर, मैं नाचार। लो, अब कहानी सुनो। मेरी सरगुज़श्त मेरी ज़बानी सुनो। नवाब मुस्तफ़ा ख़ाँ, बमियाद सात बरस के, क़ैद हो गए थे, सो उनकी तक़सीर मुआफ़ हुई और उनको रिहाई मिली। सिर्फ़ रिहाई का हुक्म आया है। जहांगीराबाद की ज़मींदारी और दिल्ली की इमलाक और पेंशन के बाब में हनूज़ हुक्म कुछ नहीं हुआ। नाचार वह रिहा होकर मेरठ ही में एक दोस्त के मकान में ठहरे हैं। बमजुर्रद इस्तमाह इस खबर के डाक में बैठकर मेरठ गया। उनको देखा, चार दिन वहाँ रहा, फिर डाक में अपने घर आया। तारीख आने-जाने की याद नहीं मगर मंगल को आया। आज बुध दोअम फरवरी है। मुझको आए हुए नवां दिन है। इंतज़ार में था कि तुम्हारा ख़त आए, तो उसका जवाब लिखा जाए। आज सुबह को तुम्हारा ख़त आया, दोपहर को मैं जवाब लिखता हूँ —

रोज़ इस शहर में एक हुक्म नया होता है
कुछ समझ में नहीं आता, कि क्या होता है।

मेरठ से आकर देखा कि यहाँ बड़ी शिद्दत है और यह हालत है कि गोरों की पासबानी पर क़नाअत नहीं है। लाहौरी दरवाज़े का थानेदार मूढ़ा बिछाकर सड़क पर बैठता है। जो बाहर से गोरे की आँख बचाकर आता है, उसको पकड़कर हवालात में भेज देता है। हाकिम के यहाँ से पाँच-पाँच बैंत लगते हैं, या तो रुपया जुर्माना लिया जाता है, आठ दिन क़ैद रहता है। इसके अलावा, सब थानों पर हुक्म है कि दरयाफ़्त करो, कौन बेटिकट मुक़ीम है और कौन टिकट रखता है। थानों में नक़्शे मुरत्तिब होने लगे। यहाँ का जमादार मेरे पास भी आया। मैंने कहा — भाई, तू मुझे नक़्शे में न रख। मेरी कैफ़ियत की इबारत अलग लिख। इबारत ये कि असदुल्ला ख़ाँ पेशनदार सन 1850 से हकीम पटियाले वाले के भाई की हवेली में रहता है। न कालों के वक़्त में कहीं गया, न गोरों के ज़माने में निकला और न निकाला गया। कर्नल ब्राउन साहिब बहादुर के ज़बानी हुक्म पर उसकी इक़ामत का मदार है। अब तक किसी हाकिम ने वह हुक्म नहीं बदला। अब हाकिम-ए-

वक़्त को इख़्तियार है। परसों ये इबारत जमादार ने महकमे के नक्शे के साथ कोतवाली में भेज दी है। कल से ये हुक्म निकला कि ये लोग शहर से बाहर मकान, दुकान क्यों बनाते हैं? जो मकान बन चुके हैं, उन्हें ढा दो। और आइंदा को मुमानअत का हुक्म सुना दो। और ये भी मशहूर है कि पाँच हज़ार टिकट छापे गए हैं। जो मुसलमान शहर में इक़ामत चाहे, बकदर-ए-मकदूर नज़राना दे। उसका अंदाज़ा क़रार देना हाकिम की राय पर है। रुपया दे, और टिकट ले। घर बरबाद हो जाए, आप शहर में आबाद हो जाएँ। आज तक यह सूरत है, देखिए, शहर के बसने की कौन मुहूरत है? जो रहते हैं वे भी इख़राज किए जाते हैं या जो बाहर पड़े हुए हैं वे शहर में आते हैं?

नूरचश्म मीर सरफ़राज हुसैन बरख़ुरदार मीर नसीरुद्दीन को दुआ, और जनाब मीरन साहिब को सलाम भी और दुआ भी, उसमें से वह जो चाहें क़बूल कर लें।

बुध, 2 फरवरी 1859 ई. असद

प्रश्न-अभ्यास

पत्र 1

मौखिक

1. ग़ालिब ने आम की फसल की बरबादी का वर्णन किस प्रकार किया है?
2. ग़ालिब पत्र को डाकघर भेजने के बारे में निश्चित क्यों नहीं थे?

लिखित

1. ग़ालिब ने वर्षा की झड़ी का चित्रण किस रूप में किया है?
2. तफ़्ता के पुत्र की मृत्यु पर ग़ालिब ने अपनी संवेदना किन शब्दों में व्यक्त की है?

पत्र 2

मौखिक

1. ग़ालिब ने अपने मित्र की और अपनी विवशता को किस प्रकार व्यक्त किया है?
2. यह कैसे कहा जा सकता है कि ग़ालिब अपने मित्रों के पत्रों का उत्तर देने के लिए तत्पर रहते थे?

लिखित

1. नवाब मुस्तफ़ा खाँ को मेरठ में ही क्यों ठहरना पड़ गया?
2. किन बातों से दिल्लीवासियों की दुर्दशा का पता चलता है?
3. ग़ालिब ने जमादार को अपनी स्थिति कैसे स्पष्ट की?
4. मीरन साहब सलाम और दुआ में से जो चाहें कबूल कर लें — इस कथन से ग़ालिब और मीरन साहब के संबंध पर क्या प्रकाश पड़ता है?

योग्यता-विस्तार

भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग ने अर्श मलशियानी द्वारा संकलित **ग़ालिब के पत्र** नामक पुस्तक प्रकाशित की है, उसे पढ़िए और ग़ालिब के व्यक्तित्व, स्वभाव और चरित्र के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

पत्र 1

भाई साहब	-	मुंशी नबी बख़्श 'हकीर' के प्रति संबोधन
मेंह	-	वर्षा, झड़ी
आलम	-	हालत
आफ़ताब	-	सूर्य
बर्क़	-	बिजली
गाहे	-	कभी-कभी
तबाह	-	बरबाद, नष्ट
कमल	-	कंबल
तफ़्ता	-	ग़ालिब के प्रिय शिष्य मुंशी हरगोपाल तफ़्ता
दोनों लड़के	-	ग़ालिब की बहन के पोते जो उनके पास ही रहते थे
खैर-ओ-आफ़ियत	-	कुशल क्षेम

पत्र 2

सैयद साहब	-	मीर मेहदी हुसैन मजरूह के प्रति संबोधन
नाचार	-	बेबस, असहाय, असमर्थ
सर गुज़श्त	-	गुज़रा हुआ हाल, वृत्त

तक़सीर	-	कुसूर, अपराध
इमलाक	-	संपत्ति, जायदाद
बाब	-	विषय, बारे में
हनूज	-	अभी
बमजुर्रद इस्तमाह	-	एकांत में सुनना
डाक	-	पत्रादि पहुँचाने या सवारी का ऐसा प्रबंध जिसमें स्थान-स्थान पर थके हुए मनुष्यों तथा घोड़ों के बदलने की व्यवस्था हो
दोअम	-	दो
शिद्दत	-	कठिनाई
पासबानी	-	निरीक्षण, निगहबानी
क़नाअत	-	संतोष
बेटिकट	-	बिना टिकट, बिना प्रमाण पत्र
मुकीम	-	थोड़े दिन के लिए ठहरा हुआ है
नक्शा	-	हुलिया
मरत्तिब	-	दर्ज होना
कैफ़ियत	-	हाल
इबारत	-	विवरण
इक़ामत	-	निवास
मदार	-	आधार
हाकिम-ए-वक़्त	-	वर्तमान अधिकारी
इख़्तियार	-	अधिकार
मुमानअत	-	मनाही, रोक, निषेध
बक़दर-ए-मकदूर	-	सामर्थ्यानुसार
नज़राना	-	भेंट
करार	-	तय करना
इख़राज	-	बाहर करना, निकालना
नूरचश्म	-	आँख की रोशनी, प्रियपुत्र
दुआ	-	आशीर्वाद

काव्य खंड

भूमिका

यद्यपि हिंदी कविता का आरंभ सिद्धों और नाथों के काव्य से माना जाता है, लेकिन हिंदी के निखरे हुए रूप के दर्शन अमीर खुसरो और विद्यापति की काव्य-भाषा में होते हैं। लोक-भाषा में काव्य-रचना की एक ऐसी परंपरा के निर्माण का श्रेय इन दोनों कवियों को है जो परवर्ती काल में अनेक रूपों में विकसित हुई। अमीर खुसरो की कविता में एक ओर ब्रजभाषा की काव्य-परंपरा के बीज हैं तो दूसरी ओर खड़ी बोली काव्य-भाषा के विकास की संभावनाएँ भी। उन्होंने दोहों और पदों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है तो मुकरियों और पहेलियों में खड़ी बोली का। अमीर खुसरो की कविता में सूफ़ी दर्शन की झलक भी है जिसका विकास बाद की हिंदी की सूफ़ी काव्यधारा में दिखाई देता है। कविता और संगीत की जो एकता अमीर खुसरो की कविता में है, उसका उदात्त रूप विद्यापति के गीतों और भक्तिकालीन रचनाओं में मिलता है। हिंदी कविता को लोकोन्मुख बनाने में अमीर खुसरो का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस प्रकार हिंदी कविता के विकास में अमीर खुसरो की कविता का ऐतिहासिक महत्त्व है।

हिंदी कविता की इस परंपरा को समझने के लिए विद्यापति की पदावली को पढ़ना आवश्यक है, क्योंकि उसमें संस्कृत की गीत काव्य-परंपरा और जयदेव जैसे कवियों की छाप है। उनकी कविता में शृंगार और भक्ति की सहज उपस्थिति है और काव्य तथा संगीत का मणिकांचन योग भी। ये दोनों प्रवृत्तियाँ भक्तिकाव्य में अधिक विकसित और उदात्त रूप में सामने आती हैं। विद्यापति की कविता हिंदी की कृष्णभक्ति काव्य-परंपरा को अनेक रूपों में प्रेरित और प्रभावित करती है। इसके प्रमाण सूरदास, मीरा और रसखान के काव्य में दिखाई देते हैं। विद्यापति ने हिंदी काव्य को अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त करते हुए उसे लोक जीवन की भाषा और संस्कृति से संपृक्त करने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

हिंदी कविता की परंपरा के आरंभिक रूप से विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए अमीर खुसरो और विद्यापति को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है।

भक्तिकाल (1400 से 1650 ई.) को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। वह एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसमें काव्य के साथ-साथ अन्य कलाओं में भी नई चेतना का उदय हुआ और सृजनशीलता का विकास भी। भक्तिकाल तक आते-आते हिंदी कविता का स्वरूप पहले से अधिक परिष्कृत और सुसंस्कृत होने लगा था। इस युग में काव्य-दृष्टि पहले से अधिक लोकोन्मुखी और व्यापक होती दिखाई देती है। इस काल में कबीर, दादू, नानक और रैदास जैसे संत कवि हुए, जिनके काव्य में प्रखर सामाजिक चेतना, गहरी दार्शनिक दृष्टि और लोक-कल्याण की भावना है। संत कवियों की विचारशीलता अपने युग के बौद्धिक द्वंद्वों को व्यक्त करती है और भविष्य की संभावनाओं की ओर संकेत भी करती है। यह कविता कालजीवी है और कालजयी भी।

भक्तिकाल में नई सामाजिक चेतना के उदय और भक्तिदर्शन की समतामूलक दृष्टि के कारण ऐसे जनसमुदायों के कवियों को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिला जो पहले काव्य-रचना की दुनिया में कम थे। इन भक्त कवियों में संत रैदास का विशिष्ट स्थान है। उनकी कविता में भक्ति से उपजा गहरा आत्मविश्वास तथा सामाजिक समता की आकांक्षा और अद्भुत विनयशीलता है। रैदास की काव्य-भाषा उस काल में प्रचलित भाषाओं के मेल-जोल का प्रमाण देती है। विद्यार्थी कबीर की कविता से आरंभिक कक्षाओं से ही परिचित होते रहे हैं। यहाँ वे रैदास की कविता से भी परिचित होंगे।

सूफ़ी काव्य हिंदी भक्तिकाव्य की एक विशेष उपलब्धि रही है। इन कवियों ने भारतीय लोक जीवन में प्रचलित प्रेम कहानियों को अपनी काव्य-रचना का आधार बनाया है। उन्होंने अधिकतर प्रबंध काव्यों की रचना की है। इन सूफ़ी कवियों के काव्य में सभी जीव-जंतुओं, प्रकृति और मनुष्य के बीच दिव्य प्रेम का एक ऐसा लोक रचा गया है जहाँ समस्त चराचर की एकता का अनुभव होता है। सूफ़ी काव्य मूलतः उदात्त प्रेम की अपार व्यापकता का काव्य है जो हर तरह के भेदभाव से मनुष्य की चेतना को मुक्त करता है। प्रेम की पीर के अमर गायक जायसी के **पद्मावत** के **मानसरोदक खंड** को पढ़कर विद्यार्थी सूफ़ी काव्य की विशेषताओं से परिचित होंगे और **पद्मावत** को समग्र रूप में पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

राम और कृष्ण के अवतारों की कल्पना करते हुए भगवान के सगुण, साकार रूप की भक्ति कृष्णभक्ति काव्य और रामभक्ति काव्य में व्यक्त हुई है। एक ओर सूर ने कृष्णभक्ति में तन्मय होकर कृष्ण की लीलाओं का गान किया है तो दूसरी ओर तुलसी

ने राम के चरित्र में शक्ति, शील और सौंदर्य का समन्वित रूप दिखाते हुए **रामचरितमानस** जैसे बेजोड़ महाकाव्य की रचना की है। तुलसी के काव्य में शास्त्र-ज्ञान और लोक-अनुभव की अपूर्व एकता है। उनके काव्य में भाव, विचार, काव्य-रूप और भाषा की जो विविधता है उसे विद्यार्थियों के सामने रखने के लिए ही **रामचरितमानस** के साथ-साथ **कवितावली** और **विनयपत्रिका** के कुछ चुने हुए काव्यांश रखे गए हैं।

रीतिकाल (1650 से 1850 ई.) हिंदी कविता में एक नया मोड़ है। इस काल में कविता लोक से मुड़कर दरबार की ओर उन्मुख हुई। फलतः कविता की संवेदना, स्वरूप और शिल्प पर भी दरबारी संस्कृति और कला का प्रभाव पड़ा। उसका भावलोक शृंगार प्रधान बना और रूप पहले से अधिक आलंकारिक हुआ। रीतिकाल में मुख्यतः तीन प्रकार के कवि मिलते हैं — रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। उस काल में सबसे अधिक संख्या उन कवियों की है जो कवि और आचार्य दोनों हैं। उन्होंने काव्यशास्त्र के ग्रंथों की रचना की और उसके अनुकूल कविता भी रची है। केशव, देव, मतिराम, पद्माकर आदि ऐसे आचार्य कबि हैं। दूसरे प्रकार के कवि वे हैं जिन्होंने रीतिग्रंथों की रचना तो नहीं की लेकिन उनकी कविता से काव्यशास्त्रीय प्रवृत्तियों की महत्ता सिद्ध होती है। बिहारी ऐसे ही कवि हैं। इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जो काव्य-रचना के समय किसी प्रकार की रीति संबंधी रूढ़ियों को नहीं मानते। वे अपनी सहज भावानुभुति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए उन्हें रीतिमुक्त या स्वच्छंद धारा का कवि कहा जाता है, ऐसे कवियों के सिरमौर हैं — घनानंद।

रीतिकाल की कविता में सीमित रूप से ही सही अपने समय के इतिहास का बोध है और उस युग की संस्कृति की अभिव्यक्ति भी। रीतिकाल की कविता में काव्य-भाषा की वह विविधता नहीं है जो भक्तिकाल में मिलती है। इस काल में ब्रजभाषा काव्य-भाषा के रूप में पूरी तरह प्रतिष्ठित हुई और उसमें व्यंजकता तथा मधुरता का मोहक विकास हुआ। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि के रूप में मतिराम पाठ्यपुस्तक में रखे गए हैं।

यदि कोई पाठक रीतिकाल की कविता पढ़ने के बाद आधुनिक काल (1850 से अब तक) की हिंदी कविता पढ़ने का प्रयास करेगा तो उसे यह अनुभव होगा कि वह एक तरह की कविता की दुनिया से निकलकर दूसरी तरह की कविता की दुनिया में प्रवेश कर रहा है। यह एक प्रकार से मध्यकालीन कविता से निकलकर आधुनिक कविता के भावलोक में प्रवेश करना है, जहाँ ब्रजभाषा के बदले खड़ी बोली काव्य-भाषा का रूप

ग्रहण करती दिखाई देती है। कवि की संवेदना अपने समय और समाज की धड़कनों से संपृक्त होती प्रतीत होती है। इस कविता में एक नई चेतना का विकास दिखाई देता है जो भारत की पराधीनता के बोध और स्वाधीनता की आकांक्षा के प्रति अत्यंत सजग है। यही हिंदी कविता की आधुनिकता का आधार है। भारतेंदु समर्थ गद्यकार के साथ-साथ संवेदनशील कवि भी थे। उन्होंने युग की आवश्यकताओं के अनुसार कविता को नए-नए विषयों की ओर उन्मुख किया, परंतु भारतेंदु युग में कविता ब्रजभाषा से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाई थी। लोक-जागरण और देश-प्रेम से जुड़ी आधुनिक चेतना ने कवि-दृष्टि तथा काव्य-संवेदना को गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। बाद में एक ओर यह अपने देश की प्रकृति से प्रेम के रूप में श्रीधर पाठक की कविता में प्रकट हुई तो दूसरी ओर भारतीय समाज और संस्कृति के अतीत के गौरवगान के रूप में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में। वस्तुतः श्रीधर पाठक ही खड़ी बोली कविता के वास्तविक जनक थे।

श्रीधर पाठक की रचना-दृष्टि में जो स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति उदित हुई वह आगे चलकर रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पांडेय आदि की कविता में विकसित हुई। इसी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का परिष्कृत, उदात्त और कलात्मक रूप छायावादी काव्य में दिखाई देता है।

छायावाद आधुनिक हिंदी कविता का अत्यंत महत्त्वपूर्ण काव्यांदोलन है जिसने हिंदी कविता को नया स्वरूप, नई चेतना और नई ऊँचाई प्रदान की। एक ओर इसने खड़ी बोली काव्य-भाषा को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से मुक्त किया तो दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता का अभूतपूर्व रूप से विकास भी। नवजागरण की प्रेरणा से रची गई छायावादी कविता का केंद्रीय भाव स्वाधीनता की चेतना है। छायावादी कविता स्वाधीनता की भावना की उपज है और वह अपने पाठकों को स्वाधीन बनाने वाली कविता भी है। इसमें राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वाधीनता के साथ-साथ वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है। छायावादी कविता में मनुष्य की मुक्ति के साथ स्वयं कविता की मुक्ति की भी चिंता है जिसके परिणामस्वरूप वह छंद के बंधन से मुक्त होती है।

छायावाद का प्रतिनिधित्व करने वाले चार महत्त्वपूर्ण कवि हैं — जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा। प्रसाद ने भारतीय समाज

और संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास पर गंभीर चिंतन-मनन करते हुए वर्तमान के संदर्भ में प्रेरक अतीत की सृजनात्मक भूमिका की खोज की और एक नई दार्शनिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदी काव्य को समृद्ध किया। **कामायनी**, **प्रलय की छाया** और **अशोक की चिंता** जैसी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने हिंदी कविता को नया भावबोध और नया सौंदर्य-विधान प्रदान किया।

छायावादी कवियों में काव्य-दृष्टि और रचना-विधान की सर्वाधिक विविधता निराला की कविता में मिलती है। उनकी कविता में भारतीय जनजीवन के सुख और दुःख, यथार्थ और स्वप्न, विजय और पराजय के अनेक रूप और पक्ष चित्रित हुए हैं। वे भारत की प्रकृति और उसकी संस्कृति को व्यक्त करने वाले अद्‌वितीय कवि हैं। लोक जीवन और उसका यथार्थ भी उनकी कविता में अत्यंत प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ है। उनकी **राम की शक्ति पूजा** और **तुलसीदास** जैसी रचनाओं में संस्कृतनिष्ठ पदावली है तो **भिक्षुक** जैसी कविता में बोलचाल की भाषा का रचनात्मक प्रयोग हुआ है। छायावादी काव्य में वैयक्तिक को सामाजिक और सामाजिक को वैयक्तिक बनाने की जो कवि-दृष्टि है उसकी अभिव्यक्ति निराला की **अधिवास** और **ध्वनि** कविताओं में मौजूद है। हिंदी कविता में मुक्तछंद के आविष्कर्ता निराला ने छंदबद्‌ध प्रगीतों की भी विपुल रचना की है।

छायावादी कविता के तीसरे कवि सुमित्रानंदन पंत प्रकृति के सबसे सुकुमार, कुशल और चितेरे कवि हैं। उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता को नई अभिव्यंजना शक्ति से समृद्‌ध किया। पंत की कविता की शक्ति उनकी ललित कल्पना और स्वप्निल वैचारिकता में प्रकट हुई है।

महादेवी वर्मा की कविता में छायावाद की प्रगीतात्मकता का चरम विकास दिखाई देता है और भारतीय स्त्री की संघर्षशीलता की अभिव्यक्ति भी।

छायावादी युग में ही लंबी कविता का जन्म हुआ जिसका विकास परवर्ती हिंदी कविता में एक महत्त्वपूर्ण काव्य-रूप बनकर उभरा है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से छायावादी कविता अद्‌वितीय है। राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, प्रकृति और प्रेम के प्रति नया दृष्टिकोण, सूक्ष्म सौंदर्य-बोध, कोमलकांत पदावली, नई छंद योजना छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं, पर साथ ही उसमें अतिशय भावुकता, वायवी कल्पनाशीलता और अमूर्तन की प्रवृत्ति भी थी जिसके विरुद्‌ध बाद

की कविता में प्रतिक्रिया हुई। उस प्रतिक्रिया का एक रूप प्रगतिशील कविता में दिखाई देता है तो दूसरा प्रयोगवादी कविता में।

काव्य में यथार्थवादी आग्रह के साथ प्रगतिशील कविता सामने आई जिसने समतावादी समाज के निर्माण की चेतना जगाने का प्रयास किया और हिंदी कविता को भाव तथा भाषा के स्तर पर साधारण जनता के निकट लाने का प्रयत्न भी। उसने शोषित-पीड़ित समुदाय तथा किसानों और मज़दूरों के साथ गहरी सहानुभूति से उपजी आलोचनात्मक दृष्टि से अपने समय और समाज को देखा। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, रामधारी सिंह 'दिनकर', शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि इस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

दिनकर ऐसे कवि हैं जिनमें राष्ट्रीय भावना के साथ प्रगतिशील चेतना भी मिलती है। वे मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय भावना को यथार्थपरक बनाकर विकसित करते हैं तथा अपने समय और समाज में व्याप्त सामाजिक असमानता की आलोचना भी करते हैं, जिसके प्रमाण उनकी कविताओं **तुम क्यों लिखते हो** और **किसको नमन करूँ मैं** में देखे जा सकते हैं।

नागार्जुन सहज लेकिन प्रभावशाली भाषा और शिल्प में प्रकृति के सौंदर्य का यथार्थ-परक चित्र अंकित करते हैं और किसान के जीवन संघर्ष का मार्मिक वर्णन भी करते हैं। उनकी कविता पाठकों के विचार और कल्पना को नई गति और शक्ति प्रदान करती है। पाठ्यपुस्तक में दी गई नागार्जुन की कविताओं में ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह हिंदी के ऐसे कवि हैं जो प्रगतिशील और प्रयोगशील काव्यधाराओं को अपनी रचनाशीलता में समाहित करते दिखाई देते हैं। वे दोनों आज़ादी के बाद विकसित होने वाली नई कविता के प्रमुख कवि हैं। मुक्तिबोध और शमशेर प्रायः संवेदना के स्तर पर प्रगतिशील हैं और शिल्प के स्तर पर प्रयोगशील। मुक्तिबोध की कविता में गहन विचारशीलता है और शिल्प में स्वप्न पद्धति तथा फैंटेसी का प्रयोग। वे अपनी लंबी कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं जिनमें विचार और संवेदना का संश्लिष्ट रूप दिखाई देता है। आज़ादी के बाद के मध्यवर्गीय जीवन की विडंबनाओं की चिंता और आत्मालोचन की प्रवृत्ति उनकी कविता की

उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें पाठक **मुझे कदम-कदम पर** और **ओ मेरे मन** जैसी कविताओं में देख सकते हैं।

शमशेर की कविता गहरी संवेदनशीलता, उदात्त और सूक्ष्म कल्पनाशीलता के साथ मिलकर नई काव्य-दृष्टि का निर्माण करती है। वे प्रायः अपने कवि-मन पर पड़े वस्तुजगत के प्रभावों का चित्रांकन अपनी कविताओं में करते हैं। शमशेर की काव्य-संवेदना की एक और उल्लेखनीय विशेषता है कि वे हिंदी और उर्दू काव्य-परंपराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाले कवि हैं। **सागर-तट** और **जन-मन के लिए** जैसी कविताओं में शमशेर की काव्य चेतना की प्रमुख विशेषताएँ मौजूद हैं।

समकालीन हिंदी कविता संवेदना और शिल्प के स्तर पर क्रमशः अधिक लोकतांत्रिक हुई है। उसमें अपने समय और समाज की कठिन वास्तविकताओं और जटिल स्थितियों को समझने, पहचानने और व्यक्त करने की विकलता दिखाई देती है। आज के समय और समाज में भारतीय मनुष्य की संकटग्रस्त नियति और दुर्गति की चिंता धूमिल और कुमार विकल जैसे कवियों में मिलती है। ये कवि बेलाग भाषा में जीवन की सच्चाइयों की निर्द्वंद्व और निर्भय अभिव्यक्ति को ही अपनी कविता का लक्ष्य मानते हैं। इस संग्रह में संकलित कुमार विकल की **पहचान** और **एक छोटी-सी लड़ाई** शीर्षक कविताओं में संकटग्रस्त मनुष्यता की व्याकुल पुकार सुनाई देती है।

इस संकलन में तेरह कवियों की चुनी हुई कविताएँ कालक्रमानुसार प्रस्तुत की गई हैं। सत्रानुसार पढ़ाने की दृष्टि से अमीर खुसरो, विद्यापति, रैदास, जायसी और तुलसी को प्रथम सत्र में तथा शेष कवियों की कविताएँ दूसरे सत्र में पढ़ाए जाने की संस्तुति की जाती है।

11 अमीर खुसरो
(1254–1325)

अमीर खुसरो का जन्म एटा (उत्तर प्रदेश) के पटियाली नामक कसबे में हुआ। उनका मूल नाम अबुल हसन था। जन्म के चार वर्ष बाद ही उनके पिता उन्हें लेकर दिल्ली आ गए। जब वे सात वर्ष के थे तब उनके पिता का देहांत हो गया। फिर भी उनकी शिक्षा-दीक्षा में कोई बाधा नहीं आई। दर्शन और विज्ञान में उनकी अत्यधिक रुचि थी। कविता के प्रति उनका लगाव बचपन से ही था और बीस वर्ष की अवस्था में वे कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गए। सन 1270 से लेकर आजीवन वे राज्याश्रय में रहे। उन्होंने तीन अफ़गान बादशाहों और ग्यारह सुलतानों का उत्थान-पतन देखा। जलालुद्दीन खिलजी ने उन्हें 'अमीर' की उपाधि दी, तभी से वे अमीर खुसरो के नाम से जाने गए।

अमीर खुसरो शेख निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। अपने गुरु के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। कहा जाता है कि गुरु के निधन के बाद शोक के कारण छह महीने के भीतर उनका भी देहांत हो गया। निज़ामुद्दीन औलिया की समाधि के पास ही उनकी भी समाधि बनाई गई, जो आज भी दिल्ली के निज़ामुद्दीन क्षेत्र में स्थित है।

उन्होंने पद्य के अलावा गद्य भी खूब लिखा। हिंदी में उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ, गीत, पद, दो सखुने और ग़ज़लें प्रसिद्ध हैं।

वे मुख्य रूप से फ़ारसी के कवि थे और फ़ारसी के महाकवियों में उनकी गिनती होती है। साथ ही वे खड़ी बोली हिंदी के जनक के रूप में जाने जाते हैं। खुसरो की कविता में श्रृंगार, भक्ति और वीरता के भाव व्यक्त हुए हैं।

पदलालित्य और मनोविनोद उनकी कविताओं का बहुत बड़ा गुण है। खुसरो के काव्य में लोक-जीवन के बहुरंगी चित्रों की मनोहर छटा मिलती है।

हिंदी और फ़ारसी के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत, अरबी और तुर्की का भी ज्ञान था। खुसरो की रचनाओं में संस्कृति के समन्वय की चेष्टा है।

साहित्य, संस्कृति और लोकाचार के अतिरिक्त संगीत पर भी उनका असाधारण अधिकार था। संगीतकला के विकास में उनका पर्याप्त योगदान है। कहा जाता है कि तबले का आविष्कार उन्होंने ही किया था।

उनकी डेढ़ दर्जन से अधिक कृतियों में फ़ारसी-हिंदी कोश **खालिकबारी** अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ है। हिंदी में उनकी मुकरियों, पहेलियों, दो सखुने, गीतों और पदों के कई संकलन प्रकाशित हैं।

यहाँ संकलित **पहेलियाँ, मुकरियाँ** और **दोहे** ब्रजरत्न दास द्वारा संपादित पुस्तक **खुसरो की हिंदी कविता** से लिए गए हैं। इन पहेलियों और मुकरियों में मनुष्य की सामान्य जीवन पद्धति और उसके सामाजिक सरोकारों की झाँकी मिलती है। वस्तुतः पहेलियों और मुकरियों के रूप में खुसरो ने एक नई लोकप्रिय काव्य-शैली का विकास किया है। उनके दोहे सामान्य अर्थ में शृंगारिक दिखते हुए भी जीवन के गूढ़ रहस्य और अध्यात्म को अभिव्यक्त करते हैं। इन दोहों में सूफ़ी दर्शन की झलक भी दिखाई देती है।

पहेलियाँ

दौड़ दौड़ जमीं पर दौड़ आसमान पर उड़ती है।
एक तमाशा हमने देखा हाथ पाँव नहिं रखती है।।
— आँख

फ़ारसी बोली आई ना। तुर्की ढूँढ़ी पाई ना।
हिंदी बोली आरसी आए। खुसरो कहें कोई न बताए।।
— आरसी

एक मंदिर के सहस्त्र दर। हर दर में तिरिया का घर।
बीच बीच वाके अमृत ताल। बूझ है इसकी बड़ी महाल।।
— शहद का छत्ता

मुकरियाँ

रात समय वह मेरे आवे। भोर भए वह घर उठ जावे।।
यह अचरज है सबसे न्यारा। ऐ सखी साजन ना सखी तारा।।

घर आवें मुख फेर धरें। दें दुहाई मन को हरें।।
कभू करत है मीठे बैन। कभू करत है रूखे नैन।।
ऐसा जग में कोऊ होता। ऐ सखी साजन ना सखी तोता।।

बाट चलत मोरा अचरा गहे। मेरी सुनै न अपनी कहे।।
ना कुछ मोसो झगड़ा झाँटा । ऐ सखी साजन न। सखी काँटा।।

दोहे

श्याम सेत गोरी लिए, जनमत भई अनीत।
एक पल में फिर जात हैं, जोगी काके मीत।।

खुसरो रैन सोहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को,दोऊ भए एक रंग।।

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस।।

प्रश्न-अभ्यास

पहेलियाँ

मौखिक

1. कवि ने आँख की किस विशेषता को तमाशा बताया है?
2. कवि को किस भाषा में खोजने पर भी 'आईना' का पर्यायवाची शब्द नहीं मिला —
   (क) हिंदी (ख) अरबी (ग) फ़ारसी (घ) तुर्की
3. किस पहेली में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है?

लिखित

1. 'एक मंदिर के सहस्र दर... महाल' पहेली में 'मंदिर' और 'तिरिया' किन्हें कहा गया है?
2. प्रस्तुत पहेलियों के आधार पर पहेली की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

योग्यता-विस्तार

लोक में प्रचलित और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ पहेलियों का संग्रह कीजिए और उन्हें कक्षा में पूछिए।

मुकरियाँ

मौखिक

1. कवि ने पति और तारे में क्या समानता बताई है?
2. काँटे को पति समझ बैठने का क्या कारण है?

लिखित

1. कभी-कभी पति का व्यवहार तोते जैसा क्यों लगने लगता है?

योग्यता-विस्तार

खुसरो की तरह भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी कुछ मुकरियाँ कही हैं। उनकी कुछ मुकरियों का संग्रह करके उन्हें कंठस्थ कीजिए।

दोहे

मौखिक

1. जीवात्मा के जन्म से क्या 'अनीत' जुड़ी है?
2. सुहाग रात में पति-पत्नी के मिलन का आध्यात्मिक संकेत किस ओर है?
3. 'गोरी सोवे सेज पर... ' दोहे की रचना का संबंध किस घटना से जोड़ा जाता है?
4. 'गोरी' किसे कहा गया है? उसके केशों की श्यामलता का चारों दिशाओं में क्या प्रभाव पड़ा?

लिखित

1. जीवात्मा के संबंध में 'जोगी काके मीत' क्यों कहा गया है?
2. 'गोरी सोवे सेज पर... देस' के अप्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
3. खुसरो के भाषा-शिल्प की कुछ विशेषताएँ बताइए।

योग्यता-विस्तार

1. अमीर खुसरो की जीवनी पढ़िए।
2. प्रथम दोहे की तुलना तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियों से कीजिए —
   भूमि परत भा डाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।।
3. 'खुसरो रैन सुहाग की... रंग' की तुलना कबीर की निम्नलिखित साखी से कीजिए —
   लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
   लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

शब्दार्थ और टिप्पणी

पहेलियाँ

पहेली : किसी व्यक्ति की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए वक्ता किसी वस्तु विशेष का वर्णन करता है, जिसमें अप्रत्यक्ष लक्षणों द्वारा वस्तु का संकेत किया जाता है। इस वर्णन में एक अन्य अर्थ की संभावना भी साथ-साथ बनी रहती है। दुहरे अर्थ संकेतों के बीच मूल अर्थ को पहचानने की क्षमता से पहेली का अर्थ उद्घाटित होता है।

जमीं - धरती, ज़मीन
आरसी - दर्पण, आईना जड़ा छल्ला जिसे स्त्रियाँ दाहिने हाथ के अँगूठे में पहनती हैं
दर - दरवाज़ा
मंदिर - घर, छत्ता
तिरिया - स्त्री, मधुमक्खी
अमृत ताल - अमृत भरा तालाब, मधुमक्खी के छत्ते में शहद से भरे प्रकोष्ठ
महाल - मुश्किल, मुहाल

मुकरियाँ

मुकरी : मुकरी का अर्थ है मुकरना अर्थात मना करना। यह पहेली का ही एक रूप है। इसमें दो अर्थों वाला प्रश्न पूछा जाता है। उन दोनों में से प्रधान अर्थ से मुकर कर दूसरे अर्थ को स्वीकार किया जाता है। इसमें परिहास का स्वर प्रमुख होता है।

हिंदी में अमीर खुसरो और भारतेंदु हरिश्चंद्र की मुकरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मेरे आव - मेरे पास आता है
बैन - बातें
अचरा - आँचल
गहे - पकड़ता है

दोहे

श्याम-सेत	-	पाप और पुण्य, काला और सफ़ेद
गोरी	-	आत्मा, चेतना, नायिका
अनीत	-	असंगति
एक पल में फिर जात है	-	मृत्यु के बाद पुनः जीवात्मा परमात्मा में मिल जाती है
जोगी काके मीत	-	जोगी किसी के मित्र नहीं होते। वे कहीं टिक कर नहीं रहते। यहाँ जीवात्मा की गतिशीलता और संचरणशीलता की ओर संकेत है
मीत	-	मित्र
पीउ/पी	-	प्रियतम, ईश्वर
मुख पर डारे केस	-	चेतना पर आवरण पड़ गया
गोरी सोवे... देस	-	कहा जाता है कि खुसरो ने यह दोहा अपने गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु के समय लिखा था

12 विद्यापति
(1380–1460)

विद्यापति का जन्म मधुबनी (बिहार) के बिस्पी गाँव के एक ऐसे परिवार में हुआ जो विद्या और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। उनके जन्म काल के संबंध में प्रामाणिक सूचना उपलब्ध नहीं है। उनके रचनाकाल और आश्रयदाता के राज्यकाल के अनुसंधान के आधार पर उनके जन्म और मृत्यु वर्ष का अनुमान किया गया है। विद्यापति मिथिला नरेश राजा शिवसिंह के अभिन्न मित्र, राजकवि और सलाहकार थे।

विद्यापति बचपन से ही अत्यंत कुशाग्र बुद्धि और तर्कशील व्यक्ति थे। साहित्य, संस्कृति, संगीत, ज्योतिष, इतिहास, दर्शन, न्याय, भूगोल आदि के वे प्रकांड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत, अवहट्ट (अपभ्रंश) और मैथिली — तीन भाषाओं में रचनाएँ कीं। इसके अतिरिक्त उन्हें और भी कई समकालीन भाषा-उपभाषाओं का ज्ञान था।

वे आदिकाल और भक्तिकाल के संधि कवि कहे जा सकते हैं। उनकी **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसी रचनाओं पर दरबारी संस्कृति और अपभ्रंश काव्य परंपरा का प्रभाव है तो उनकी **पदावली** के गीतों में भक्ति और शृंगार की गूँज है। विद्यापति की पदावली ही उनके यश का मुख्य आधार है। वे हिंदी साहित्य के मध्यकाल के पहले ऐसे कवि हैं जिनकी पदावली में जन भाषा में जन संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है।

मिथिला क्षेत्र के लोक-व्यवहार में और सांस्कृतिक अनुष्ठानों में उनके पद इतने रच-बस गए हैं कि पदों की पंक्तियाँ अब वहाँ के मुहावरे बन गई हैं। लोकानुरंजन, पद लालित्य, मानवीय प्रेम और व्यावहारिक जीवन के विविध रंग इन पदों को मनोरम और आकर्षक बनाते हैं। राधा-कृष्ण के प्रेम के माध्यम से लौकिक प्रेम के विभिन्न रूपों का चित्रण, स्तुति-पदों में विभिन्न देवी-देवताओं की भक्ति, प्रकृति संबंधी पदों में प्रकृति की मनोहर छवि रचनाकार के अपूर्व कौशल, प्रतिभा और कल्पनाशीलता के परिचायक हैं। उनके पदों में प्रेम और सौंदर्य की अनुभूति की जैसी निश्छल अभिव्यक्ति हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं — **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, पुरुष परीक्षा, भू परिक्रमा, लिखनावली** और **पदावली।**

पुस्तक में संकलित पहले पद में विरह की उस चरम अवस्था का चित्रण है जिसमें प्रिया और प्रिय (राधा और कृष्ण) एकाकार हो जाते हैं। तादात्म्य की उस दशा में राधा की अथाह वेदना का वर्णन करते हुए कवि ने राधा की जटिल मनोदशा की अभिव्यक्ति दोनों छोरों से जलती हुई लकड़ी के बीच फँसे हुए कीट के माध्यम से की है। राधा की आत्मविस्मृति की दारुण दशा का मार्मिक चित्रण देखते ही बनता है।

दूसरे पद में नायिका के अनुपम सौंदर्य का मनोरम और बिंबात्मक चित्रण है। इस चित्रण में प्रकृति का उद्दीपक रूप प्रस्तुत हुआ है। रूप रसज्ञ राजा शिवसिंह और रानी लखिमा देवी के प्रति कवि के निष्ठा भाव की अभिव्यक्ति भी यहाँ है।

विद्यापति पदावली

(1)

अनुखन माधव माधव सुमिरइते, सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभाबहि बिसरल, अपनेहि गुन लुबुधाई।।
माधब, अपरुब तोहर सिनेह।
अपनेहि बिरहें अपन तनु जरजर, जिबइते भेल संदेह।।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरु, छल-छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत, आधा आधा बानि।।
राधा सँग जब पुन तहि माधब, माधब सँग जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहि टूटत, बाढ़त बिरहक बाधा।।
दुहुदिसि दारु - दहन जैसे दगधइ, आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि, कवि विद्यापति भान।।

(2)

सरस बसंत समय भल पाओल, दछिन पबन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप बचन इक भाषिए, मुख सओ दूरि करु चीरे।।
तोहर बदन सम चान होअथि नहि, जइओ जतन बिहि केला।
कए बेरि काटि बनाओल नव कए, तइओ तुलित नहि भेला।।
लोचन-तूल कमल नहि भए सक, से जग के नहि जाने।
से फेरि जाइ लुकाएल जल भए, पंकज निज अपमाने।।
भनइ विद्यापति सुनु बर जौबति, ई सभ लछमी समाने।
राजा सिबसिंह रूपनराएन लखिमा देइ रमाने।।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. राधा माधवमय कैसे हो गई?
2. कविता की किन पंक्तियों में राधा की उन्मादावस्था का चित्रण हुआ है?
3. किस अवसर पर नायिका को स्वप्न दिखाई पड़ा?
4. कमल ने स्वयं को अपमानित क्यों महसूस किया?

लिखित

1. 'अनुखन माधब माधब सुमरइते' पद के आधार पर राधा के विरह की पराकाष्ठा का वर्णन किस प्रकार किया गया है?
2. राधा की किस स्थिति को देखकर उसकी सखी कातर हो उठी?
3. नायिका ने स्वप्न में क्या देखा?
4. विधाता ने चंद्रमा को नायिका के मुख के समान सुंदर बनाने के लिए क्या-क्या प्रयत्न किए?
5. निम्नलिखित पंक्तियों की व्याख्या कीजिए —
   (क) दुहुदिसि दारु-दहन जैसे दगधइ, आकुल कीट परान।
   (ख) तोहर बदन सम चान होअथि नहि जइओ जतन बिहि केला।
6. यहाँ संकलित पदों के आधार पर विद्यापति की कविता की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
7. काव्यसौंदर्य स्पष्ट कीजिए —
   (क) अनुखन माधब माधब सुमिरइते, सुंदरि भेलि मधाई।
   ओ निज भाव सुभाबहि बिसरल, अपनेहि गुन लुबुधाई।।
   (ख) लोचन-तूल कमल नहिं भए सक, से जग के नहि जाने।
   से फेरि जाइ लुकाएल जल भए, पंकज निज अपमाने।।

योग्यता-विस्तार

1. सूर के निम्नलिखित पद में राधा की उन्मादावस्था का ऐसा ही चित्रण है। इसे पढ़िए और इसकी तुलना पहले पद से कीजिए —
   सुनौ स्याम! यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै।
   दुहुँ दिसि की रति विरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै।।
   जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
   जब माधौ ह्वै जाति सकल तनु राधा बिरह दहै।।

उभय अग्र दव दारु कीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै।।

2. रीतिकाल के अनेक कवियों ने नायिका के रूप-सौंदर्य का मनोरम वर्णन किया है, ऐसी कुछ पंक्तियाँ ढूँढ़कर लिखिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

अनुखन	- प्रतिपल
सुमिरइते	- स्मरण करते हुए
भेलि	- हो गई
मधाई	- कृष्णमय, माधवमय हो गई है
सुभावहि	- स्वभाव को
लुबुधाई	- मोहित हो गई
भोरहि	- प्रातःकाल
सहचरि	- सखी
कातर दिठि हेरि	- करुण दृष्टि से देखकर
आधा आधा बानि	- अस्फुट वाणी या बोल
दारुन	- गहन, प्रगाढ़
पुन तहि	- पुनः वही
दुहुदिसि	- दोनों ओर
दारु-दहन जैसे	- जलती लकड़ी के समान
दगधई	- जलते हुए
कीट परान	- घुन के प्राण
सुधामुखि	- चंद्रमा के समान मुखवाली
हेरि	- देखकर, सुध लेकर
भान	- कहते हैं
पाओल	- पाकर आया है
भाषिए	- कह रहा है
चीरे	- वस्त्र, घूँघट
तोहर बदन	- तुम्हारे मुख
होअथि नहि	- नहीं हो सकता
विहि	- विधि, विधाता
केला	- किया

कए बेरि काटिअ... नहि भेला	-	चंद्रमा का घटना-बढ़ना ही काट-काट कर बनाना है
कए बेरि	-	कितनी ही बार
तइओ	-	तब भी
तुलित	-	समान
भेला	-	हो सका
लोचन तूल	-	आँखों के समान
लुकाएल	-	छिप गया
बर	-	सुंदर, श्रेष्ठ
जोवति	-	युवती
लछमि	-	लक्ष्मी
सिबसिंह	-	कवि विद्यापति के आश्रयदाता राजा शिवसिंह जिन्हें कवि ने अपने पदों में रूपनारायण की उपमा दी है
लखिमा देइ	-	राजा शिवसिंह की पत्नी रानी लखिमा देवी

13 रैदास
(1388-1518)

कहा जाता है कि संत रैदास कबीर के समकालीन थे और काशी के निवासी थे। उनके जन्म और मृत्यु के समय के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। यह माना जाता है कि वे 15वीं सदी में विद्यमान थे। रैदास गृहस्थ जीवन जीते हुए भी उच्चकोटि के संत के रूप में विख्यात थे। उनकी अपार लोकप्रियता, विलक्षण ज्ञान और व्यापक प्रभाव के बारे में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। देश के अनेक भागों के लाखों लोग आज भी उनके अनुयायी हैं। मीरा और रज्जब जैसे परवर्ती संतों ने उन्हें आदर के साथ स्मरण किया है।

संत रैदास उत्कृष्ट साधना, जीवन शैली तथा सदाचरण के कारण आज भी भारतीय धर्म साधना के इतिहास में श्रद्धा के साथ याद किए जाते हैं। उनके काव्य में गुरु भक्ति, नाम स्मरण, प्रेम, कर्तव्यपालन तथा सत्संग को महत्त्व मिला है। रैदास की रचनाओं की मूल भाषा ब्रज है पर कहीं-कहीं अवधी, राजस्थानी आदि का पुट भी उसमें मिलता है।

रैदास ने अपने समय के समाज में पीड़ित जन समुदाय की भावना को समझा और उसे जनभाषा में जनता के सामने रखा। उनके जीवन और काव्य का प्रमुख उद्देश्य समाज-कल्याण था।

रैदास ने पदों और साखियों की रचना की है। उनके पद **गुरुग्रंथ साहब** में संगृहीत हैं। **रैदास की बानी** और **रैदास के पद** नाम से उनकी बानी के संग्रह तैयार किए गए हैं, परंतु रैदास की रचनाओं का पूरा प्रामाणिक संग्रह अभी तक उपलब्ध नहीं है।

यहाँ रैदास के दो पद दिए गए हैं। पहले पद में रैदास ने भक्ति के लोक कल्याणकारी रूप का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि सच्ची भक्ति-भावना जाति, कुल और अमीर-गरीब में कोई भेद नहीं करती। सच्चा भक्त अपनी भगवद्भक्ति के प्रभाव से अपने साथ अपने कुल को भी सांसारिक बंधनों से मुक्ति दिलाता है। दूसरे पद में भगवान की अपार उदारता, कृपालुता और उनके समदर्शी स्वभाव का वर्णन है। रैदास कहते हैं कि भगवान ने तथाकथित निम्न कुल में उत्पन्न भक्तों को भी सहज भाव से अपनाया है और उन्हें लोक में सम्माननीय स्थान दिलाया है।

पद

(1)

जिहि कुल साधु वैसनो होइ।
बरन अबरन रंक नहीं ईस्वर, विमल बासु जानिए जग सोइ।।
बाँभन बैस सूद अरु खत्री डोम चंडाल मलेच्छ किन सोइ।
होई पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारै कुल दोइ।।
धनि सु गाउँ धनि धनि सो ठाऊँ, धनि पुनीत कुटँब सभ लोइ।
जिनि पिया सार-रस, तजे आन रस, होइ रसमगन, डारे बिषु खोइ।।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि औरु न कोई।
जैसे पुरैन-पात जल रहै समीप भनि रविदास जनमे जगि ओइ।।

(2)

ऐसी लाज तुझ बिनु कौन करै।
गरीबनिवाजु गुसैयाँ, मेरे माथे छत्र धरै।।
जाकी छोति जगत कौ लागै, तापर तुही ढरै।
नीचहिं ऊँच करै मेरा गोबिंदु, काहू ते न डरै।।
नामदेव, कबीर, तिलोचन, सधना, सैनु तरै।
कहि रविदास सुनहु रे संतों, हरि-जीउ ते सभै सरै।।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. 'तारै कुल दोइ' कथन में किनकी मुक्ति की ओर संकेत है?
2. कवि की दृष्टि में कौन-सा गाँव और कैसे लोग धन्य हैं?
3. कमल-पात की क्या विशेषता होती है?
4. कवि ने 'गरीबनिवाजु' किसे कहा है?

लिखित

1. कवि ने वैष्णव भक्त की किन विशेषताओं का उल्लेख किया है?
2. रैदास के अनुसार इस जन्म में कौन मनुष्य सजग और विवेकशील है?
3. अपने किन गुणों के कारण ईश्वर भक्त अन्य सबसे अनूठा है?
4. 'जाकी छोति जगत कौ लागै, तापर तुही ढरै' पंक्ति का आशय स्पष्ट कीजिए।
5. भाव स्पष्ट कीजिए —

   (क) जिनि पिया सार-रस, तजे आन रस, होइ रसमगन, डारे बिषु खोइ।।
   पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि औरु न कोई।
   जैसे पुरैन-पात जल रहै समीप भनि रविदास जनमे जगि ओई।।

   (ख) ऐसी लाज तुझ बिनु कौन करै।
   गरीबनिवाजु गुसैयाँ, मेरे माथे छत्र धरै।।

योग्यता-विस्तार

1. निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़िए और उनकी तुलना पहले पद से कीजिए —

   (क) वैष्णव की छतरी भली ना सासत का बड़ गाँव।

   — कबीर

   (ख) वैष्णव जन तो तेणें कहिए, जे पीर पराई जाणै रे।

   — नरसी मेहता

2. ऐसो को उदार जग माँही।
   बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।

   तुलसी के इस पद को खोजकर पढ़िए और रैदास के दूसरे पद से इसका भाव साम्य बताइए।

3. 'संतों ने मनुष्य द्वारा निर्मित जातिगत भेदभावों को मिटाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।' कबीर, नानक, दादू और रैदास के पदों के आधार पर इस विषय पर कक्षा में चर्चा कीजिए।
4. नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना, सैन आदि संत-भक्त कवियों के जीवन-चरित्र के बारे में पुस्तकालय की सहायता से विस्तृत जानकारी प्राप्त कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

बैसनो	-	वैष्णव, हरि भक्त
रंक	-	गरीब
ईस्वर	-	ईश्वर, राजा से अभिप्राय है
खत्री	-	क्षत्रिय
तारै कुल दोई	-	लोक और परलोक रूपी दो कुल
किन	-	क्यों न
धनि	-	धन्य
सु गाउँ	-	वह गाँव
ठाऊँ	-	स्थान
लोइ	-	लोग
सार रस	-	प्रेम तत्त्व
आन रस	-	दूसरे आनंद
पुरैन-पात	-	कमल का पत्ता
जनमे जग ओइ	-	जगत में उसी का जन्म लेना सार्थक है
गुसैयाँ	-	स्वामी
गरीबनिवाजु	-	दुखी लोगों पर कृपा करने वाला
छोति	-	छूत, स्पर्श-दोष
नामदेव	-	महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत, जिन्होंने मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में रचना की है
सधना/सदना	-	एक संत जिन्हें उच्चकोटि के संतो में गिनने की परंपरा बहुत दिनों से चली आ रही है। ये नामदेव के समकालीन माने जाते हैं
सैन	-	ये भी एक प्रसिद्ध संत माने जाते हैं। **आदि गुरुग्रंथ साहब** में संगृहीत पद के आधार पर इन्हें रामानंद का समकालीन कहा जाता है
त्रिलोचन	-	एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य, जो ज्ञानदेव और नामदेव के गुरु थे

14 मलिक मुहम्मद जायसी

(1492-1542)

मलिक मुहम्मद जायसी अमेठी (उत्तर प्रदेश) के निकट जायस के रहनेवाले थे। इसी कारण वे जायसी कहलाए। वे अपने समय के सिद्ध और पहुँचे हुए फ़कीर माने जाते थे। उन्होंने सैयद अशरफ़ और शेख बुरहान के रूप में अपने दो गुरूओं का उल्लेख किया है।

जायसी सूफ़ी प्रेममार्गी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं और उनका **पद्मावत** प्रेमाख्यानक परंपरा का सर्वश्रेष्ठ प्रबंध काव्य। भारतीय लोककथा पर आधारित इस प्रबंध काव्य में सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती और चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के प्रेम की कथा है। **पद्मावत** का रचनाकार लौकिक कथा का वर्णन कहीं-कहीं इस प्रकार करता है कि अलौकिक और परोक्ष सत्ता का आभास हो जाता है। इस वर्णन में रहस्य का गहरा पुट भी मिलता है। प्रेम का यह लोकधर्मी स्वरूप मानवमात्र के लिए प्रेरणादायी है।

फ़ारसी की मसनवी शैली में रचित इस काव्य की कथा सर्गों या अध्यायों में बँटी हुई नहीं है, बराबर चलती रहती है। स्थान-स्थान पर शीर्षक के रूप में घटनाओं और प्रसंगों का उल्लेख अवश्य है। जायसी ने काव्य-रचना के लिए दोहा-चौपाई की शैली अपनाई। भाषा उनकी ठेठ अवधी है और काव्य-शैली अत्यंत प्रौढ़ और गंभीर। जायसी की कविता का आधार है लोकजीवन का व्यापक अनुभव। उनके द्वारा प्रयुक्त उपमा, रूपक, लोकोक्तियाँ, मुहावरे यहाँ तक कि काव्य-भाषा पर भी लोकसंस्कृति का प्रभाव है जो उनकी रचनाओं को नया अर्थ और सौंदर्य प्रदान करता है।

पद्मावत, अखरावट और **आखिरी कलाम** जायसी की प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं, जिनमें **पद्मावत** उनकी प्रसिद्धि का प्रमुख आधार है।

पद्मावत के **मानसरोदक खंड** से उद्धृत इस काव्यांश में पद्मावती के दिव्य और अलौकिक रूप और गुणों का वर्णन है। एक बार पद्मावती सखियों के साथ मानसरोवर में स्नान करने गई। कवि ने सखियों के वार्तालाप और क्रीड़ा का तथा एक सखी के हार खोने और मिलने का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है। लोकगीतों की संवाद शैली में रचित यह अंश भारतीय समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति को भी उजागर करता है।

मानसरोदक खंड

एक दिवस पून्यौ तिथि आई। मानसरोदक चली नहाई।।
पदमावति सब सखी बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई।।
खेलत मानसरोवर गई। जाइ पालि पर ठाढ़ी भई।।
देखि सरोवर हँसैं कुलेली। पदमावति सौं कहहिं सहेली।।
ऐ रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।।
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू।।
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर पाली।।
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा।।
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरैं देहीं।।

पिउ पियार सिर ऊपर, सो पुनि करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह।।

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई।।
ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।।
ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।।
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा।।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा।।

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहिं लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं देइ।।

लागीं केलि करै मझ नीरा। हंस लजाइ बैठ ओहि तीरा।।
पदमावति कौतुक कहँ राखी। तुम ससि होहु तराइन्ह साखी।।
बाद मेलि कै खेल पसारा। हार देइ जो खेलत हारा।।
सँवरिहि साँवरि, गोरहि गौरी। आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी।।

बूझि खेल, खेलहु एक साथा। हार न होई पराए हाथा।।
आजुहि खेल, बहुरि कित होई। खेल गए कित खेलै कोई?
धनि सो खेल खेल सहपेमा। रउताई औ कूसल खेमा?
मुहमद बाजी पेम कै, ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहिं के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल।।
सखी एक तेई खेल न जाना। भै अचेत मनि हार गँवाना।।
कँवल डार गहि भै बेकरारा। कासौं पुकारौं आपन हारा।।
कित खेलै आइउँ एहि साथा। हार गँवाइ चलिउँ लेइ हाथा।।
घर पैठत पूँछब यह हारू। कौन उतर पाउब पैसारू।।
नैन सीप आँसू तस भरे। जानौ मोति गिरहिं सब ढरे।।
सखिन कहा बौरी कोकिला। कौन पानि जेहि पौन न मिला?
हार गँवाइ सो ऐसे रोवा। हेरि हेराइ लेइ जौं खोवा।।
लागीं सब मिलि हेरै, बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोइ उठी मोती लेइ, काहू घोंघा हाथ।।
कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।।
भा निरमल तिन्ह पाँयन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे।।
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल, गै तपनि बुझाई।।
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुन्य-दसा भै पाप गँवावा।।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना।।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा।।
पावा रूप रूप जस चाहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।।
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. 'एहि नैहर रहना दिन चारी'— कथन किस ओर संकेत करता है?
2. सरोवर में लहरें उठने का क्या कारण बताया गया है?
3. खेल न जानने वाली सखी के साथ क्या दुर्घटना घटी?
4. कविता की किन पंक्तियों में नारी जीवन की विवशता और परतंत्रता का चित्रण हुआ है?
5. मानसरोवर की क्या चाह थी और वह कैसे पूरी हुई?

लिखित

1. पद्मावती के रूप-सौंदर्य का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
2. सरोवर-स्नान के लिए आमंत्रित सखियों को 'फुलवारी' क्यों कहा गया है?
3. सखियों ने क्या कहकर पद्मावती को सरोवर में स्नान के लिए प्रेरित किया?
4. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —

   (क) सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई।।
   ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।।
   ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।।
   छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा।।
   भूलिचकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा।।

   (ख) ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना।।
   बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा।।
   पावा रूप रूप जस चाहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।।
   नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
   हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।।

5. आशय स्पष्ट कीजिए —

   (क) तुम ससि होहु तराइन्ह साखी।

   (ख) कौन पानि जेहि पौन न मिला?

6. निम्नलिखित पंक्तियों का काव्य-सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —

   (क) ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।।
   ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।।

   (ख) नैन सीप आँसू तस भरे। जानौ मोति गिरहिं सब ढरे।।

(ग) मुहमद बाजी पेम कै, ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहिं के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल।।

7. पठित काव्यांश से निम्नलिखित अलंकारों का एक-एक उदाहरण चुनकर लिखिए —
उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति

योग्यता-विस्तार

1. इस काव्यांश में संसार की असारता और अनित्यता का उल्लेख है। इस विषय पर कबीर, तुलसी, नानक आदि के कथनों का संग्रह कीजिए और उनका सुवाचन कीजिए।
2. **पद्मावत** में वर्णित संपूर्ण कथावस्तु को जानिए और उसे संक्षेप में अपने शब्दों में लिखिए।
3. कवि ने **पद्मावत** काव्य के अंत में एक रूपक इस प्रकार दिया है —

   'तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिंय सिंहल मुनि पदमिनि चीन्हा।।
   गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा?
   नागमती यह दुनिया धंधा, बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।।
   राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।।'

   अपने अध्यापक की सहायता से इस रूपक को समझिए और जानिए कि **पद्मावत** की कथा से जुड़े प्रमुख पात्र रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, हीरामन सुआ और अलाउद्दीन किनके प्रतीक हैं।

शब्दार्थ और टिप्पणी

पून्यौ तिथि - पूर्णिमा की तिथि
पालि - किनारा
ठाढ़ी - खड़ी होना
कुलेली - केलि अथवा क्रीड़ा करना
नैहर - मायका, पिता का घर
गवनब - गमन करना होगा
काली - कल, आने वाला समय
जिउ लेहीं - प्राण
दारुन - निर्दयी
निसरै - निकलने देना
दहुँ - शायद, कदाचित
खोंपा - जूड़ा (बँधा हुआ केशों का गुच्छा)
मुकलाई - मुक्त किया, खोला

ओनई	-	झुक आई
राहूँ	-	राहू
छपिगै	-	छिप गए
विमोहा	-	विमुग्ध हो गया
मकु	-	शायद, संभवतः
मिस	-	बहाने
तराइन्ह	-	तारे
बाद मैलिकै	-	बाजी लगाकर
सह पेमा	-	प्रेम से
रउताई औ कूसल खेमा	-	प्रभुत्व भी जताए और कुशल-क्षेम भी पूछे! (व्यंग्य)
फुलायल	-	सुगंधित
पैठत	-	प्रवेश करते ही
कौन उतर पाउब पैसारू	-	क्या उत्तर देकर घर में प्रवेश कर पाऊँगी
हेराइ लेइ	-	ढूँढ़ लो
ततखन	-	तत्क्षण, उसी क्षण
बिगसे	-	खिलना
ओप	-	आभा, कांति
दसन जोति	-	दाँतों की चमक

15 तुलसीदास
(1532-1623)

तुलसीदास का जन्म बाँदा ज़िले के राजापुर गाँव में हुआ था। कुछ विद्वान उनका जन्म-स्थान सोरों को भी मानते हैं। तुलसीदास का बचपन घोर कष्ट में बीता। बालपन में ही उनका माता-पिता से बिछोह हो गया था और भिक्षाटन द्वारा वे अपना जीवन-यापन करने को विवश हुए। कहा जाता है गुरु नरहरिदास की कृपा से उन्हें रामभक्ति का मार्ग मिला। रत्नावली से उनका विवाह होना और उनकी बातों से प्रभावित होकर तुलसीदास का गृहत्याग करना प्रसिद्ध है, किंतु इसका पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। पारिवारिक जीवन से विरक्त होने के बाद वे काशी, चित्रकूट,अयोध्या आदि तीर्थों में भ्रमण करते रहे। सन 1574 में अयोध्या में उन्होंने **रामचरितमानस** की रचना प्रारंभ की, किंतु उसका कुछ अंश उन्होंने काशी में भी लिखा। बाद में वे काशी में रहने लगे थे और यहीं उनका निधन हुआ।

तुलसीदास लोकमंगल की साधना के कवि हैं। उन्हें समन्वय का कवि भी कहा जाता है। तुलसीदास का भावजगत धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत व्यापक है। मानव प्रकृति और जीवन-जगत संबंधी गहरी अंतर्दृष्टि और व्यापक जीवनानुभव के कारण ही वे **रामचरितमानस** में लोक जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन कर सके। **मानस** में उनके हृदय की विशालता, भाव प्रसार की शक्ति और मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान की क्षमता पूरे उत्कर्ष के साथ व्यक्त हुई है। तुलसी को **मानस** में जिन प्रसंगों की अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिला उनको उन्होंने **कवितावली, गीतावली** आदि में व्यक्त किया है। **विनय पत्रिका** में विनय और आत्म-निवेदन के पद हैं। इस प्रकार तुलसी के काव्य में विश्वबोध और आत्मबोध का अद्वितीय समन्वय हुआ है।

तुलसीदास की रचनाओं में भाव, विचार, काव्यरूप, छंद-विवेचन और भाषा की विविधता तथा समृद्धि मिलती है। **रामचरितमानस** हिंदी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है। इसकी रचना मुख्यतः दोहा और चौपाई छंद में हुई है। भाषा उसकी अवधी है। **गीतावली, कृष्ण गीतावली** तथा **विनय पत्रिका** पद शैली की रचनाएँ हैं तो **दोहावली** स्फुट दोहों का संकलन। **कवितावली** कवित्त और सवैया छंद में रचित उत्कृष्ट रचना है।

ब्रज और अवधी दोनों ही भाषाओं पर तुलसी का असाधारण अधिकार था। तुलसीकृत बारह कृतियाँ प्रामाणिक मानी जाती हैं परंतु **रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली** और **विनय पत्रिका** ही उनकी ख्याति के आधार हैं।

पुस्तक में संकलित **गुरु महिमा** और **कबितबिबेक** दोनों अंश **रामचरितमानस** के **बालकांड** से लिए गए हैं। **गुरु महिमा** में तुलसी की अनन्य गुरु-भक्ति प्रकट हुई है। इस काव्यांश में कवि ने गुरु की एक मौलिक और अद्‌वितीय छवि निर्मित की है। गुरु की कृपा से ही शिष्य का हृदय आलोकित होता है, उसकी अंतर्दृष्टि विकसित होती है और उसे जगत के रहस्यों का बोध होता है।

कबितबिबेक में तुलसी ने कविता की सृजन-प्रक्रिया और उसके आस्वादन के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। वे कहते हैं कि श्रेष्ठ कविता वह है जिसमें अनुभूत विचारों की अभिव्यक्ति हो और कविता का सच्चा आस्वादनकर्ता वही हो सकता है जो विवेकशील हो। उनकी दृष्टि में सार्थक काव्य वही है जिसमें भाव और विचार की एकता हो और जो लोकमंगलकारी हो। यहाँ तुलसी की महानता उनकी विनयशीलता में व्यक्त हुई है। राम भक्ति के रूप में कवि ने अपना काव्य-प्रयोजन भी इन पंक्तियों में प्रकट किया है। अपनी कविता के बारे में वह कहते हैं कि काव्यशास्त्रीय कसौटी पर भले ही वह खरी न भी उतरे पर उसमें रामभक्ति का चित्रण पूरी तन्मयता से हुआ है।

कवितावली के **अयोध्याकांड** से उद्‌धृत इस कवित्त में तुलसी की व्यापक मानवीय करुणा अभिव्यक्त हुई है। कवि ने इसमें अपने समय में आए भीषण अकाल के कारण जनजीवन की दुर्दशा का मर्मस्पर्शी और यथार्थपरक चित्रण किया है। यहाँ कवि का गहरा यथार्थबोध व्यक्त हुआ है।

विनयपत्रिका से चयनित पद में मनुष्य की संसार में आसक्ति और उस आसक्ति के फलस्वरूप भक्ति से विरक्ति की अभिव्यक्ति हुई है। कवि ने उस विरक्ति के बोध से उपजे अपने पश्चाताप को प्रभु के सामने निवेदित किया है।

गुरु-महिमा

बंदौं गुरपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।।
बंदौं गुरपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिअ मूरिमय चूरनु चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।।
सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलकु गुनगन बसकरनी।।
श्रीगुरपद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हिंयँ होती।।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक।।
जथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन भूतल भूरि निधान।।

कबितबिबेक

भाग छोट अभिलाषु बड़ करउँ एक बिस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास।।
खलपरिहास होई हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा।।
हंसहि बक गादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही।।
कबितरसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू।।
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी।।
प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी।।

हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।।
रामभगति भूषित जिअ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी।।
कबि न होउँ नहि बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू।।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।।
कबितबिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागर कोरे।।

भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्वबिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्ह के बिमल बिबेक।।

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।।
नृपकिरीट तरुनीतनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।।
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं।।
भगतिहेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।।
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ।।
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी।।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।।
हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना।।
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।।

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग।।

कवित्त और पद

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाइ, का करी!'

बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
सॉंकरे सबै पै, राम! रावरें कृपा करी।
दारिद-दसानन दवाई दुनी, दीनबंधु!
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।।

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
याके लिए सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो।।
सीतल मधुर पीयूष सहज सुख निकटहिं रहत, दूर जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस, बृथहिं मंदमति वारि बिलोयो।।
करम-कीचजिय, जानि, सानि चित, चाहत कुटिल मलहिमल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो।।
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।
डासत ही गइ बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो।।

प्रश्न-अभ्यास

गुरु-महिमा

मौखिक

1. गुरु की चरण-धूलि की क्या विशेषता है?
2. गुरु की वाणी की तुलना सूर्य की किरणों से क्यों की गई है?
3. गुरु के चरणों का स्मरण करने वाले को बड़भागी क्यों कहा गया है?
4. अंतर की आँखें खुल जाने का क्या प्रभाव होता है?

लिखित

1. गुरु को 'नर रूप हरि' कहने का कारण क्या है, स्पष्ट कीजिए।
2. कवि द्वारा वर्णित गुरु की चरणधूलि के प्रभाव को अपने शब्दों में लिखिए।
3. गुरु चरणों के नखों की क्या महिमा बतलाई गई है?

4. निम्नलिखित पंक्तियों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए —

(क) जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलकु गुनगन बसकरनी।।
श्रीगुरपद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती।।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।

5. काव्य सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —
बंदौं गुरपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।।

योग्यता-विस्तार

1. कबीर, नानक, जायसी आदि भक्तों ने भी गुरु-महिमा का चित्रण किया है। उनकी गुरु-महिमा संबंधी कुछ कविताओं का संकलन कीजिए।
2. 'कृपा-सिंधु नररूप हरि' की कबीर की निम्नलिखित साखी से तुलना कीजिए —
गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौ पाँय।
बलिहारी गुरु आपनै, गोबिंद दियो बताय।।

कबितबिबेक

मौखिक

1. कवि को अपनी कविता के बारे में क्या विश्वास है?
2. हंस, चातक, बगुला और गादुर किन्हें कहा गया है?
3. दुष्ट जनों द्वारा उड़ाए गए मखौल को तुलसी अपने लिए हितकर क्यों मानते हैं?

लिखित

1. तुलसी के अनुसार अच्छी कविता की कसौटी क्या है?
2. हिंदी के एक श्रेष्ठ कवि होने पर भी तुलसी ने ऐसा क्यों कहा है — 'कबितबिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागर कोरे।।'
3. कवि ने कविता के किन-किन तत्त्वों का उल्लेख किया है?
4. किस संदर्भ में तुलसी ने साधारण जन की प्रशंसा में लिखी कविता को सरस्वती का रुदन बताया है?

5. निम्नलिखित काव्यांशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   (क) उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं।।
   (ख) हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना।।
   जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।।
6. काव्य सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —
   मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।।
   नृपकिरीट तरुनीतनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।।

योग्यता-विस्तार

1. राम तुम्हारा चरित, स्वयं ही काव्य है
   कोई कवि बन जाए, सहज संभाव्य है।

   तुलसी की कविता के संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त के इस विचार की सार्थकता पर कक्षा में एक परिचर्चा का आयोजन कीजिए।
2. 'तुलसी ने कविता और राम-भक्ति को एक कर दिखाया है'— इस विषय पर कुछ पंक्तियाँ लिखिए।

कवित्त और पद

मौखिक

1. तुलसी ने अपने युग की किस दुर्दशा का चित्रण किया है —
   (क) भक्ति विमुखता का
   (ख) रोज़ी-रोटी के अभाव का
   (ग) सांप्रदायिकता की भावना का
   (घ) शासकीय अत्याचार का
2. क्या तर्क देकर कवि प्रभु राम से उनकी कृपा प्राप्त करना चाहता है?

लिखित

1. तुलसी ने अपने युग की जिस दुर्दशा का चित्रण किया है उसे अपने शब्दों में लिखिए।
2. कवि अपने मन के किस व्यवहार से दुखी है?
3. निम्नलिखित पंक्ति का भाव स्पष्ट कीजिए —
   डासत ही गइ बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो।।

योग्यता-विस्तार

1. तुलसी द्वारा चित्रित युग की दुर्दशा को ध्यान में रखकर आज के युग की स्थिति पर एक लेख लिखिए।
2. मन की मूर्खता और चंचलता पर लिखी अन्य भक्तों की कविताओं का चयन कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

गुरु- महिमा

कंज	-	कमल
नररूप हरि	-	मनुष्य के रूप में ईश्वर
तमपुंज	-	अज्ञान रूपी अंधकार का समूह
रबिकर निकर	-	सूर्य की किरणें
अमिअ मूरिमय	-	जड़ी-बूटी रूपी अमृत
समन	-	शांत करना
भवरुज	-	सांसारिक कष्ट
सुकृत	-	पुण्य कर्म
विभूति	-	भस्म
मुकुर	-	दर्पण
बसकरनी	-	वशीभूत करने वाली
उघरहि	-	खुल जाते हैं
बिलोचन ही के	-	हृदय के नेत्र
खानिक	-	खान

कबितबिबेक

बक	-	बगुला
गादुर	-	चमगादड़
खोरी	-	खोट, कमी निकालना
प्रबीनू	-	प्रवीण, चतुर
भनिति	-	कविता, कथन
कागर	-	कागज़
किरीट	-	मुकुट

बिहाई	-	छोड़कर
सारद	-	विद्या की देवी शारदा या सरस्वती
सर	-	तालाब, सरोवर
अन्हवाएँ	-	नहाना, गोता लगाना
कबि कोबिद	-	कवि और विद्वान
गिरा	-	वाणी की देवी सरस्वती
बर बारि बिचारू	-	श्रेष्ठ विचार रूपी जल
जुगुति	-	युक्ति
पोहिअहिं	-	पिरोते हैं
बिमल	-	पवित्र, निष्कपट

कवित्त और पद

बनिक	-	व्यापार करने वाला, वैश्य
बनिज	-	वाणिज्य,व्यापार
चाकरी	-	नौकरी
सीद्यमान	-	पीड़ित, कष्ट पाते हुए
साँकरे	-	कष्ट में पड़े हुए
रावरें	-	आपके
दारिद-दसानन	-	दरिद्रता रूपी रावण को
दुनी	-	दुनिया
दुरित-दहन	-	पाप नष्ट करने की क्षमता
मूढ़	-	मूर्ख
बिगोयो	-	बिगाड़ा, नुकसान किया
पीयूष	-	अमृत
स्रम	-	श्रम, मेहनत
वारि बिलोयो	-	पानी को मथा, व्यर्थ परिश्रम किया
करम-कीच	-	कर्मों का कीचड़
तृषावंत	-	प्यासा
सुरसरि	-	गंगा
बिहाय	-	छोड़कर
गोयो	-	छिपाया, गुप्त रखा
डासत ही गइ बीति निसा	-	बिछौना बिछाते-बिछाते ही रात बीत गई, सुख प्राप्ति के उपाय करते-करते जीवन बीत गया।

16 मतिराम
(1603-1701)

मतिराम का जन्म कानपुर (उत्तर प्रदेश) ज़िले के टिकमापुर गाँव में हुआ था। वे प्रसिद्ध कवि और आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी और वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण के भाई थे। उनका अधिकांश जीवन बूँदी दरबार में बीता। वहाँ के हाड़ा राजाओं की वीरता और चरित्र का वर्णन उन्होंने अपने प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथ **ललित ललाम** में किया है।

मतिराम रीतिकाल के उच्च प्रतिभासंपन्न कवि थे। ब्रजभाषा पर उनका सहज अधिकार था। उनकी भाषा बहुत ही व्यवस्थित और पुष्ट है, वह भावों का अनुगमन करने में पूर्णतः सक्षम है। सूक्ष्म भावों की सरस, मधुर और मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति उनके रचना-संसार की विशेषता है। रूप-सौंदर्य, भाव-भंगिमा और प्रेम-व्यंजना की सूक्ष्म अनुभूतियों का उनके द्वारा किया गया सजीव चित्रण हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। सहज प्रेम के चित्रण में उनके अनुभूतिजन्य भाव बड़े ही मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त हुए हैं। इन अनुभूतियों में जगह-जगह वचन वक्रता से वर्णन में गति और नाटकीयता का समावेश हुआ है। उनके कवित्त-सवैयों में नाद-सौंदर्य और अर्थ-विधान की संभावनाओं का सार्थक उपयोग किया गया है। ब्रजभाषा-काव्य में ऐसी अकृत्रिम सरसता और लालित्य कम मिलता है।

मतिराम की चार रचनाएँ मिलती हैं — **फूलमंजरी, रसराज, ललित ललाम** और **सतसई**। इनमें **रसराज** और **ललित ललाम** अधिक प्रसिद्ध हैं। शृंगार रस और नायिका भेद पर लिखा उनका ग्रंथ **रसराज** अपनी तरह का अनुपम ग्रंथ है।

यहाँ मतिराम के तीन सवैये और एक कवित्त संकलित हैं। पहले सवैये में कृष्ण के मुख-मंडल के सौंदर्य का मनोहारी चित्रण हुआ है। मोर पंख से बना मुकुट, गले में वनमाल,कानों में हिलते हुए कुंडल और चंचल विशाल नेत्रों के लावण्य से युक्त उनके मुख की शोभा सभी को आकृष्ट करती है।

दूसरे सवैये में कृष्ण की मुसकान पर रीझी मुग्धा नायिका का चित्रण है, जो एकटक कृष्ण को निहारती हुई, बिना हिले-डुले, उनकी मुसकान से आनंद विभोर हो उठी है।

तीसरे सवैये में नायिका (राधा) के गोरे अंगों और उसकी अलस चितवन और मधुर मुसकान के सौंदर्य का अनूठा चित्रण है, जिसे जितना निकट से देखा जाए, उतना ही वह अधिक निखर उठता है।

चौथे कवित्त छंद में यमुना तट पर प्रियतम (कृष्ण) की प्रतीक्षा में बैठी नायिका (राधा) के आकुल नेत्रों की चंचलता का चित्रण हुआ है जो कभी मछली जैसे, कभी कमल जैसे, कभी खंजन जैसे और कभी चकोर जैसे नज़र आते हैं।

सौंदर्य और शृंगार

(1)

मोर पखा मतिराम किरीट में, कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि में छबि छाई।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहो, मीठी लगे अँखियान लुनाई।।

(2)

जा दिन ते छबि सों मुसुकान कहूँ, निरखे नंदलाल बिलासी।
ता दिन ते मन-ही-मन में, मतिराम पियै मुसकानि सुधा-सी।
नेकु निमेष न लागत नैन, चके चितवै तिय देव-तिया-सी।
चंद-मुखी न चलै, न हिलै, निरबात निवास में दीप-सिखा-सी।।

(3)

कुंदन को रंग फीको लगे, झलके अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में, मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।।

(4)

जमुना के तीर बहै सीतल समीर जहाँ,
मधुकर करत मधुर मंद सोर हैं।
कवि मतिराम तहाँ छबि सों छबीली बैठी,
अंगन तैं फैलत सुगंध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी,
चहुँ ओर दीरघ दृगन करि दौर हैं।
एक ओर मीन मनों, एक ओर कंजपुंज,
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।।

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. 'अँखियान लुनाई' का क्या आशय है? मुखमुंडल का सौंदर्य उससे क्यों बढ़ जाता है?
2. किस विशेषता के कारण कृष्ण के मुख की मधुरता को अवर्णनीय कहा गया है?
3. कृष्ण-मुसकान पर मुग्ध नायिका की क्या प्रतिक्रिया हुई?
4. नायिका के गौर वर्ण वाले अंगों के सम्मुख स्वर्ण का रंग भी फीका पड़ जाता है — इस कथन के चमत्कार का कारण क्या है?

लिखित

1. कृष्ण के मुख-मंडल के सौंदर्य का चित्रण अपने शब्दों में कीजिए।
2. कृष्ण की मुसकान का मुग्धा गोपी पर क्या प्रभाव पड़ा?
3. 'ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।' — इस पंक्ति के भाव-सौंदर्य को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रियतम की प्रतीक्षा में बैठी हुई नायिका के नेत्रों की चंचल चितवन के चित्रण में कवि ने क्या-क्या कल्पनाएँ की हैं?
5. निम्नलिखित पंक्तियों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   (क) लोचन लोल बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई।
   वा मुख की मधुराई कहा कहो, नीकी लगे अँखियान लुनाई।।

(ख) को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि; त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।।

6. निम्नलिखित पंक्तियों के अलंकार-सौंदर्य को स्पष्ट कीजिए —
(क) चंद-मुखी न चलै, न हिलै, निरबात निवास में दीप-सिखा-सी।।
(ख) चके चितवै तिय देव-तिया-सी।
(ग) एक ओर मीन मनौं, एक ओर कंजपुंज,
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।

7. 'रूप-सौंदर्य के चित्रण में मतिराम बेजोड़ हैं।' पठित कविताओं के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

योग्यता-विस्तार

1. 'मीठो भावै लोन पर अरु मीठे पर लौन' की तुलना
'वा मुख की मधुराई कहा कहो, मीठी लगे अँखियान लुनाई' से कीजिए।
2. 'ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई' के संदर्भ में निम्नलिखित पंक्तियों के भाव-सौंदर्य पर टिप्पणी कीजिए —
क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताः
— कालिदास
जनम अवध हम रूप निहारिल नैन न तिरपति भेल
— विद्यापति
3. 'निरबात निवास में दीप-सिखा-सी' की तुलना बिहारी की निम्नलिखित पंक्तियों से कीजिए—
अंग अंग नग जगमगत, दीप-सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाए हूँ रहे, बड़ो उज्यारो गेह।।

शब्दार्थ और टिप्पणी

किरीट	-	मुकुट
लोल	-	चंचल
बिलोकि	-	देखकर
लुनाई	-	लावण्य, सुंदरता
निमेष	-	पलभर
निरबात	-	वायु रहित
चके	-	चकित होकर
चितवै	-	देखती है

तिय	-	स्त्री, नायिका (गोपी)
देवतिया	-	देवांगना, अप्सरा
चारू	-	सुंदर
गुराई	-	गोरापन
चितौनि	-	चितवन, दृष्टि
सरसाई	-	आकर्षित, मोहित
ज्यौं-ज्यौं... निकरै सी निकाई	-	ज्यौं-ज्यौं उनके सौंदर्य को समीप से देखते हैं, त्यौं-त्यौं वे सौंदर्य की कसौटी पर खरी उतरती हैं
निहारिबे को	-	देखने को
बाट	-	राह
दीरघ	-	बड़े-बड़े
एक ओर...चकोर एक ओर हैं	-	इस पंक्ति में आँखों के विविध उपमानों (मीन,कमल, खंजन,चकोर) का प्रयोग है

17 जयशंकर प्रसाद
(1889-1937)

जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी के प्रसिद्ध सुँघनी साहू परिवार में हुआ था। वे कुछ वर्ष काशी के क्वीन्स कॉलेज में पढ़ने गए, पर परिस्थितिवश आठवीं कक्षा से आगे नहीं पढ़ सके। तब घर पर ही संस्कृत, हिंदी, फ़ारसी और उर्दू का अध्ययन किया। भारतीय इतिहास और दर्शन में उनकी गहरी रुचि थी। पिता, माता और बड़े भाई के असामयिक निधन के कारण किशोरावस्था में ही प्रसाद को परिवार का उत्तरदायित्व सँभालना पड़ा। युवावस्था में ही उनकी पत्नी भी चल बसीं। इन अवसादों और वेदनाओं का प्रभाव प्रसाद की रचनाओं में भी झलकता है।

प्रसाद छायावादी काव्य के उन्नायकों में से हैं। छायावादी कविता की अतिशय काल्पनिकता, सौंदर्य का सूक्ष्म चित्रण, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, मानवीकरण और लाक्षणिकता उनकी कविताओं में स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। प्रसाद में विषय की व्यापकता और चिंतन की गहराई भी बहुत है। उनकी रचनाओं में गौरवशाली प्राचीन भारतीय संस्कृति का चित्रण बहुत प्रभावी ढंग से हुआ है। सूक्ष्मतम अनुभूतियों और मानवीय भावों की परख तथा उनकी अभिव्यंजना में प्रसाद बेजोड़ कवि हैं।

कवि के साथ-साथ प्रसाद श्रेष्ठ कहानीकार, नाटककार, निबंधकार और उपन्यासकार भी हैं, परंतु वे मूलतः कवि हैं, इसीलिए उनकी गद्य रचनाओं में भी काव्यगत सरसता मिलती है। उनका साहित्य जीवन की कोमलता, माधुर्य, शक्ति और ओज का साहित्य है। उनके काव्य में प्रेम, करुणा, उत्साह, उमंग तथा सौंदर्य की गहरी छवियाँ अंकित हैं। विश्व-करुणा और मैत्री उनके काव्य का संदेश है।

जयशंकर प्रसाद ने अपनी काव्ययात्रा ब्रजभाषा से शुरू की। **चित्राधार** संग्रह में वे कविताएँ संकलित हैं। बाद में उन्होंने खड़ी बोली में लिखा और उसे लाक्षणिकता और व्यंजकता प्रदान की। उनकी कृति **कामायनी** को आधुनिक हिंदी का श्रेष्ठतम काव्य माना जाता है। उस पर उन्हें **मंगला प्रसाद** पारितोषिक दिया गया।

उनकी अन्य प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं — ***झरना, आँसू*** *और* ***लहर। अजातशत्रु, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी*** *आदि उनके नाटक हैं;* ***कंकाल, तितली*** *और* ***इरावती*** *उपन्यास।* ***आकाशदीप, आँधी*** *और* ***इंद्रजाल*** *उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।*

कलिंग युद्ध में भारी हिंसा और खून-खराबा देखकर मगध सम्राट विजेता अशोक का हृदय दहल उठा और वे राजसत्ता, युद्ध और जीवन की सार्थकता पर विचार करने के लिए बाध्य हुए। ***अशोक की चिंता*** *नामक लंबी कविता में अशोक की इसी चिंता की अभिव्यक्ति हुई है। अशोक अंततः इस क्षणभंगुर और निस्सार जीवन में मानव-मात्र के प्रति करुणा को सार्थक समझते हैं।*

अशोक की चिंता

जलता है यह जीवन-पतंग
जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुंज से कण-कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन —
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग?

है ऊँचा आज मगध-शिर —
पदतल में विजित पड़ा गिर,
दूरागत क्रंदन-ध्वनि फिर
क्यों गूँज रही है अस्थिर —
कर विजयी का अभिमान भंग?

इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुंकारों से,
नत-मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का?
शासन रे मानव मन का!
गिरि-भार बना-सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का —
फिर रवि-शशि-किरणों का प्रसंग!

यह महादंभ का दानव,
पीकर अनंग का आसव,
कर चुका महाभीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव,
तज विजय पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग।

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा–उठा मतवाला,
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली काली अलकों में,
आलस, मद नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण-भंगुर है तरंग।

फिर निर्जन उत्सव-शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधु बाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहाँ मृदंग।

इस नील विषाद गगन में,
सुख चपला-सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में —
उलझा है चंचल मन-कुरंग।

आँसू कन-कन ले छल-छल,
सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में हैं चंचल,
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।

वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय-सीमा में यह कंपन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग।

करुणा गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिंगल संध्या सुरंग।

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन रंग?

संसृति के विक्षत पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधुपान भृंग!

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन पतंग!

प्रश्न-अभ्यास

मौखिक

1. 'जीवन-पतंग' से कवि का क्या आशय है?
2. कविता में 'विजयी' और 'विजित' शब्दों का प्रयोग किनके लिए हुआ है?
3. कविता की किन पंक्तियों में दुखी संसार को करुणा का प्रसाद बाँटने का संदेश है?
4. 'उत्सव शाला' नीरव और निर्जन क्यों है?
5. जीवन के मार्ग को जलती हुई सिकता क्यों कहा गया है?

लिखित

1. '**अशोक की चिंता** कविता में अशोक का क्षोभ अनेक रंगों में चित्रित हुआ है'— कविता से उदाहरण देकर उपर्युक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए।

2. कलिंग के नतमस्तक होने का कारण क्या बताया गया है?
3. विजयी होने पर भी अशोक मगध का अभिमान भंग होने का क्या कारण बता रहा है?
4. फूलों का चटकीले रंगवाला होना कवि को व्यर्थ क्यों प्रतीत होता है?
5. 'दुखिया है सारा अग-जग' — कवि द्वारा चित्रित 'दुखिया जग' का चित्रण अपने शब्दों में कीजिए।
6. जीवन की क्षणभंगुरता के लिए कवि ने किन प्रतीकों का सहारा लिया है?
7. भाव स्पष्ट कीजिए —

(क) यह महादंभ का दानव,
पीकर अनंग का आसव,
कर चुका महाभीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव,
तज विजय-पराजय का कुढंग।

(ख) आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

8. काव्य-सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —

(क) इस नील विषाद गगन में,
सुख चपला-सा दुख-घन में,

(ख) गिरि-भार बना-सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का —
फिर रवि-शशि-किरणों का प्रसंग!

(ग) करुणा गाथा गाती है,
वह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिंगल संध्या सुरंग।

योग्यता-विस्तार

1. अशोककालीन मगध और कलिंग राज्य की वर्तमान भारत में भौगोलिक-सामाजिक स्थिति का अध्ययन करें।
2. अशोक महान क्यों कहलाते हैं — इस विषय पर कक्षा में परिचर्चा कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

शलभपुंज	-	पतंगों का समूह
तृष्णा	-	प्यास, विषय-वासनाओं का आकर्षण
अनलशिखा	-	आग की लौ
रक्तिम यौवन	-	शक्ति से भरी युवावस्था
घटाटोप	-	अवसाद के घने बादल
अनंग का आसव	-	राजलिप्सा
रव	-	ध्वनि, शोर
तुरंग	-	घोड़ा
मधुशाला	-	मदिरालय, शराबखाना
हाला	-	मदिरा, शराब
अलक	-	केश राशि
नीरव	-	शांत
श्लथ	-	मुरझाई हुई
विषाद	-	दुख
चपला-सा	-	बिजली की तरह, क्षणिक
मरु-मरीचिका	-	रेगिस्तान की रेत में धूप के कारण जल होने का भ्रम, मृगतृष्णा
मन-कुरंग	-	मन रूपी हिरन
दृगंचल	-	पलक
निषंग	-	तरकश, तीरों को रखने का उपकरण
पिंगल	-	पीला
तम पट	-	अंधकार का पर्दा
विहंग	-	पक्षी
संसृति	-	संसार, सृष्टि
विक्षत	-	घायल
अनुलेप	-	औषधीय लेप, मलहम
मृदु दल	-	कोमल पत्ते
मग	-	मार्ग
नग	-	पहाड़
अग-जग	-	जड़ और चेतन, सारा विश्व
सिकता	-	बालू

18 सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
(1899-1961)

निराला का जन्म बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले के महिषादल स्टेट में हुआ था। उनका पितृग्राम गढ़कोला (उन्नाव, उ.प्र.) है। उनके बचपन का नाम सूर्य कुमार था। बहुत छोटी आयु में ही उनकी माँ का निधन हो गया। निराला की विधिवत स्कूली शिक्षा नवीं कक्षा तक ही हुई। पत्नी की प्रेरणा से निराला की साहित्य और संगीत में रुचि पैदा हुई। सन 1918 में उनकी पत्नी का देहांत हो गया और उसके बाद पिता, चाचा, चचेरे भाई एक-एक कर सब चल बसे। अंत में पुत्री सरोज की मृत्यु ने निराला को भीतर तक झकझोर दिया। अपने जीवन में निराला ने मृत्यु का जैसा साक्षात्कार किया था उसकी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में है।

सन 1916 में उनकी प्रसिद्ध कविता **जुही की कली** लिखी गई जिससे बाद में उनको बहुत प्रसिद्धि मिली और वे मुक्त छंद के प्रवर्तक भी माने गए। निराला सन 1922 में रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित पत्रिका **समन्वय** के संपादन से जुड़े। सन 1923-24 में वे **मतवाला** के संपादक मंडल में शामिल हुए। वे जीवनभर पारिवारिक और आर्थिक कष्टों से जूझते रहे। अपने स्वाभिमानी स्वभाव के कारण निराला कहीं टिककर नौकरी नहीं कर पाए। अंत में इलाहाबाद आकर रहे और वहीं उनका देहांत हुआ।

छायावाद और हिंदी की स्वच्छंदतावादी कविता के प्रमुख आधार स्तंभ निराला का काव्य-संसार बहुत व्यापक है। उनमें भारतीय इतिहास, दर्शन और परंपरा का व्यापक बोध है और समकालीन जीवन के यथार्थ के विभिन्न पक्षों का चित्रण भी। भावों और विचारों की जैसी विविधता, व्यापकता और गहराई निराला की कविताओं में मिलती है वैसी बहुत कम कवियों के यहाँ है। उन्होंने भारतीय प्रकृति और संस्कृति के विभिन्न रूपों का गंभीर चित्रण अपने काव्य में किया है। भारतीय किसान जीवन से उनका लगाव उनकी अनेक कविताओं में व्यक्त हुआ है।

यद्यपि निराला मुक्त छंद के प्रवर्तक माने जाते हैं तथापि उन्होंने विभिन्न छंदों में भी कविताएँ लिखी हैं। उनके काव्य-संसार में काव्य रूपों की भी विविधता है। एक ओर उन्होंने **राम की शक्ति पूजा** और **तुलसीदास** जैसी प्रबंधात्मक कविताएँ लिखीं तो दूसरी ओर

प्रगीतों की भी रचना की। उन्होंने हिंदी भाषा में ग़ज़लों की भी रचना की है। उनकी सामाजिक आलोचना व्यंग्य के रूप में उनकी कविताओं में जगह-जगह प्रकट हुई है।

निराला की काव्यभाषा के अनेक रूप और स्तर हैं। **राम की शक्ति पूजा** और **तुलसीदास** में तत्सम प्रधान पदावली है तो **भिक्षुक** जैसी कविता में बोलचाल की भाषा का सृजनात्मक उपयोग। भाषा का कसाव, शब्दों की मितव्ययिता और अर्थ की प्रधानता उनकी काव्य-भाषा की जानी-पहचानी विशेषताएँ हैं।

निराला की प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं — **परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, नए पत्ते, बेला, अर्चना, आराधना, गीतगुंज** आदि। निराला ने कविता के अतिरिक्त कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे। **निराला रचनावली** के आठ खंडों में उनका संपूर्ण साहित्य प्रकाशित हो चुका है।

अधिवास कविता में कवि निराला ने बताया है कि कवि का आवास उसके 'स्व' तक सीमित नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसा होने पर जीवन की गति ही अवरुद्ध हो जाएगी। जीवन की गतिशीलता से जुड़ाव के कारण ही कवि की भावनाओं का प्रसार होता है और उसकी कविता का विकास भी। उसके 'स्व' की अनुभूति में 'पर' की दुखानुभूति भी सम्मिलित है और यही बोध कवि को आत्मबद्धता से मुक्त करता है।

ध्वनि कविता में कवि की निराशा और कठिनाइयों के बीच भी जीवन जीने की अदम्य आकांक्षा प्रकट हुई है। कवि अपने प्रयत्न से संसार में नवजीवन के संचार का आत्मविश्वास भी प्रकट करता है।

अधिवास

कहाँ?
मेरा अधिवास कहाँ?
क्या कहा? रुकती है गति जहाँ?
भला इस गति का शेष
संभव है क्या,
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश

मैंने 'मैं' शैली अपनाई;
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई।

उसके निकट गया मैं धाय,
लगाया उसे गले से हाय,
फँसा माया में, हूँ निरुपाय,
कहो, कैसे फिर, गति रुक जाए?

उसकी अश्रु-भरी आँखों पर मेरे करुणांचल का स्पर्श,
करता मेरी प्रगति अनंत, किंतु तो भी मैं नहीं विमर्ष;

छुटता है यद्यपि अधिवास,
किंतु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।

ध्वनि

अभी न होगा मेरा अंत।
अभी-अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसंत–
अभी न होगा मेरा अंत।

हरे-हरे ये पात,
डालियाँ, कलियाँ, कोमल गात।
मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर

पुष्प-पुष्प से तंद्रालस लालसा खींच लूँगा मैं
अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं।

द्वार दिखा दूँगा फिर उनको
हैं मेरे वे जहाँ अनंत –
अभी न होगा मेरा अंत

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु,
है जीवन ही जीवन।

अभी पड़ा है आगे सारा यौवन,
स्वर्ण-किरण कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन,

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बंधु दिगंत –
अभी न होगा मेरा अंत।

प्रश्न-अभ्यास

अधिवास

मौखिक

1. अधिवास से कवि का क्या आशय है?
2. कवि केवल आत्मकेंद्रित होकर कब रह सकता है?
3. 'मैं' शैली से क्या आशय है?

लिखित

1. गति रुक जाने को कवि असंभव क्यों मानता है?
2. कवि का 'स्व' 'पर' में कैसे बदल जाता है?
3. माया में फँसने से कवि का क्या आशय है?
4. कवि रचनाकार के रूप में अपनी निर्बाध प्रगति का कारण क्या मानता है?
5. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   मैंने 'मैं' शैली अपनाई,
   देखा दुखी एक निज भाई,
   दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
   झट उमड़ वेदना आई।

योग्यता-विस्तार

1. प्रस्तुत कविता से निम्नलिखित पंक्तियों की तुलना कीजिए —
   अपने से बाहर आने को छोड़, नहीं आवास दूसरा।
   भीतर भले स्वयं साँई बसते हों
   — अज्ञेय

ध्वनि

मौखिक

1. 'अभी न होगा मेरा अंत' में कवि के किस मनोभाव की अभिव्यक्ति हुई है —
   (क) चिंता (ख) आत्मविश्वास (ग) उत्साह (घ) भय
2. किस आधार पर कवि अपनी मृत्यु की निकटता को नकारता है?
3. किन पंक्तियों में कवि ने नवोदित रचनाकारों को प्रोत्साहित करना चाहा है?
4. कविता की किन पंक्तियों में सांसारिकता के प्रति पूर्ण लगाव की कामना संकेतित है?

लिखित

1. अपने जीवन रूपी वन को तरोताज़ा और नया बनाए रखने के लिए कवि क्या संकल्प प्रकट करता है?
2. कविता में डालियों, कलियों और पुष्पों को किनका प्रतीक माना गया है? उन्हें अनंत का द्वार दिखाने से कवि का क्या आशय है?
3. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) इसमें कहाँ है मृत्यु, है जीवन ही जीवन।
   (ख) स्वर्ण-किरण कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन
4. इस कविता में रचनाकार के अंतःकरण की आवाज़ की अभिव्यक्ति हुई है — इस आधार पर **ध्वनि** शीर्षक की सार्थकता बतलाइए।
5. काव्य सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —
   (क) मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
   फेरूँगा निद्रित कलियों पर
   जगा एक प्रत्यूष मनोहर
   (ख) अभी पड़ा है आगे सारा यौवन,
   स्वर्ण-किरण कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन,

योग्यता-विस्तार

इस कविता के साथ निराला की **मैं अकेला** कविता खोजकर पढ़िए और दोनों के विरोधी भावों पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

अधिवास

अधिवास	-	निवास स्थान
गति	-	गतिशील जीवन, जीवन के क्रियाकलाप
शेष	-	अंत, समाप्ति, रुक जाना
आवेश	-	तीव्रता, जोश
मैंने 'मैं' शैली अपनाई	-	मैंने व्यक्तित्वपरक कविताएं लिखीं
धाय	-	दौड़कर जाना
करुणांचल	-	करुणा का भाव, अपनत्व
विमर्ष	-	क्षुब्ध, उद्विग्न
त्रास	-	भय, दुख

ध्वनि

मृदुल वसंत	-	कलियों और फूलों से भरा हुआ कोमल वसंत (नवयौवन का संचार)
निद्रित	-	नींद में डूबी, अधखिली
प्रत्यूष	-	प्रभात, प्रातः
तंद्रालस	-	अधनींद से पैदा हुई शिथिलता और आलस्य
अनंत	-	ईश्वर, जिसे अनादि और अंनत कहा जाता है
कल्लोल	-	क्रीड़ा
दिगंत	-	क्षितिज
अविकसित	-	जो अभी शुरुआती है, विकासोन्मुख है
राग	-	लगाव, तल्लीनता

19 रामधारी सिंह 'दिनकर'

(1908-1974)

रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म मुंगेर (बिहार) ज़िले के सिमरिया गाँव में हुआ था। बी.ए. करने के बाद उन्होंने कुछ दिनों तक एक उच्च माध्यमिक विद्‌यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वे सरकारी प्रचार विभाग में अवर-निबंधक तथा उपनिदेशक के पदों पर कार्य करते रहे। कुछ समय तक वे बिहार विश्वविद्‌यालय (मुज़फ़्फ़रपुर) के हिंदी विभाग के अध्यक्ष तथा भागलपुर विश्वविद्‌यालय के कुलपति भी रहे। 1952 ई. में वे राज्यसभा के सदस्य मनोनीत किए गए। भारत सरकार के हिंदी सलाहकार के रूप में एक लंबे समय तक उन्होंने हिंदी के संवर्धन तथा प्रचार-प्रसार का कार्य किया।

रामधारी सिंह 'दिनकर' राष्ट्रीयता, ओज और जीवन के प्रति अटूट विश्वास के कवि हैं। उन्होंने सौंदर्य और शृंगार की कविताएँ भी लिखी हैं। उनकी कविताओं में छायावादी रूमानियत और सामाजिक चेतना का अद्‌भुत सामंजस्य है जिसके कारण उन्हें छायावाद और प्रगतिवाद का सेतु कवि कहा जाता है। दिनकर के काव्य में सौंदर्य, प्रेम और मानवीय संवेदनाओं का मार्मिक अंकन मिलता है और असमानता, भूख, गरीबी और मानवीय नियति के खिलाफ़ विस्फोटक आक्रोश भी। असमानता उन्हें क्षुब्ध करती है और वे सत्ता के विरुद्‌ध आक्रोश से भर उठते हैं। अपने पाठकों को शक्ति और आवेग का आह्‌वान कर वे सामाजिक समता की स्थापना के लिए उत्प्रेरित करते हैं। उनके काव्य में राष्ट्रीय चेतना और 'सर्वजन समभाव' की सशक्त अभिव्यक्ति के कारण ही उन्हें मैथिलीशरण गुप्त की परंपरा का 'राष्ट्रकवि' माना गया।

दिनकर की काव्य-भाषा उनके भावों की अनुगामिनी रही है। उनकी भाषा में एक ओर ओज और प्रवाह है तो दूसरी ओर व्यंग्य का गहरा पुट भी। संवादात्मकता उनकी भाषा का एक अन्यतम गुण है। उनका शब्द-चयन तत्सम प्रधान है पर कहीं-कहीं अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। दिनकर ने छंदबद्‌ध और छंदमुक्त दोनों प्रकार की कविताएँ लिखी हैं।

संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक पर उन्हें **साहित्य अकादमी** का पुरस्कार तथा **उर्वशी** काव्य पर **ज्ञानपीठ पुरस्कार** प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने उन्हें **पद्म भूषण** की उपाधि से अलंकृत किया।

दिनकर की मुख्य काव्य कृतियाँ हैं — **रेणुका, हुंकार, रश्मिरथी, रसवंती, नीलकुसुम, कुरुक्षेत्र** और **उर्वशी**। इन काव्य कृतियों के अतिरिक्त दिनकर ने अनेक विचारपरक, चिंतनपरक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें **संस्कृति के चार अध्याय, शुद्ध कविता की खोज, साहित्योन्मुखी** और **दिनकर की डायरी** उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक में संकलित पहली कविता **तुम क्यों लिखते हो?** में दिनकर रचनाकारों का आह्वान करते हैं कि उन्हें कोरी कल्पना और हवाई उड़ान में रमने के बदले जीवन की वास्तविकताओं और सच्चाइयों को देखने, समझने और व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। वे अपने समय के कवियों का आह्वान करते हुए उनसे आग्रह करते हैं कि वे जो लिखते हैं उसकी असली सार्थकता क्या है, इस पर विचार करें।

दूसरी कविता के माध्यम से दिनकर ने भारत के गौरवशाली अतीत को याद किया है और यह देखकर क्षोभ भी व्यक्त किया है कि आज के विभक्त और कुत्सित जीवन से भरे भारत को कैसे नमन किया जाए? उन्होंने एक खुशहाल और समृद्ध भारत के निर्माण का आह्वान किया है।

तुम क्यों लिखते हो?

तुम क्यों लिखते हो? क्या अपने अंतरतम को
औरों के अंतरतम के साथ मिलाने को?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को?

यदि छिपा चाहते हो दुनिया की आँखों से,
तब तो मेरे भाई! तुमने यह बुरा किया।
है किसे फ़िक्र ही यहाँ, कौन क्या लाया है?
तुमने ही क्यों अपने को अद्‌भुत मान लिया?

कहनेवाले जाने क्या-क्या कहते आए,
सुननेवालों ने मगर, कहो, क्या पाया है?
मथ रहीं मनुज को जो अनंत जिज्ञासाएँ,
उत्तर क्या उनका कभी जगत में आया है?

अच्छा, बोलो आदमी एक मैं भी ठहरा,
अंबर से मेरे लिए चीज़ क्या लाए हो?
मिट्‌टी पर हूँ मैं खड़ा, ज़रा नीचे देखो,
ऊपर क्या है जिस पर टकटकी लगाए हो?

तारों में है संकेत? चाँदनी में छाया?
बस, यही बात हो गई सदा दुहराने की?

सनसनी, फेन, बुदबुद, सब कुछ सोपान बना,
अच्छी निकली यह राह सत्य तक जाने की।

दावा करते हैं शब्द जिसे छू लेने का,
क्या कभी उसे तूने देखा या जाना है?
तुतले कंपन उठते हैं जिस गहराई से,
अपने भीतर क्या कभी उसे पहचाना है?

जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल,
असली निदान पर जड़े वज्र के ताले हैं,
उत्तर, शायद, हो छिपा मूकता के भीतर,
हम तो प्रश्नों का रूप सजाने वाले हैं।

तब क्यों रचते हो वृथा स्वांग, मानो, सारा
आकाश और पाताल तुम्हारे कर में हो?
मानो, मनुष्य नीचे हो तुमसे बहुत दूर,
मानो, कोई देवता, तुम्हारे स्वर में हो।

मिहिका रचते हो? रचो; किंतु क्या फल इसका?
खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है?
लेकिन, मनुष्य की द्वाभा और सघन होती,
धरती की किस्मत और भरमती जाती है।

धो डालो फूलों का पराग गालों पर से,
आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो;
कितने पानी में हो, इसको जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन जाओ तो।

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ़ रहे
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को,
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जान-बूझ गँदला करते अपने जल को!

किसको नमन करूँ मैं?

तुझको या तेरे नदीश, गिरि वन को नमन करूँ मैं?
मेरे प्यारे देश! देह या मन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है?
वेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है;
मेरे प्यारे देश! नहीं तू पत्थर है, पानी है।
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

तू वह, नर ने जिसे बहुत ऊँचा चढ़कर पाया था;
तू वह, जो संदेश भूमि को अंबर से आया था,
तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है,
थकी हुई आत्मा में उड़ने की उमंग भरता है।
गंध-निकेतन इस अदृश्य उपवन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

वहाँ नहीं तू जहाँ जनों से ही मनुजों को भय है,
सबको सबसे त्रास सदा सब पर सबका संशय है।

जहाँ स्नेह के सहज स्रोत से हटे हुए जनगण है,
झंडों या नारों के नीचे बँटे हुए जनगण हैं।
कैसे इस कुत्सित, विभक्त जीवन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

तू तो है वह लोक जहाँ उन्मुक्त मनुज का मन है,
समरसता को लिए प्रवाहित शीत स्निग्ध जीवन है।
जहाँ पहुँच मानते नहीं नर-नारी दिग्बंधन को,
आत्म-रूप देखते प्रेम में भरकर निखिल भुवन को।
कहीं खोज इस रुचिर स्वप्न पावन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं शील यह भूमंडल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
निखिल विश्व की जन्मभूमि-वंदन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?...

प्रश्न-अभ्यास

तुम क्यों लिखते हो?

मौखिक

1. कवि ने कविता लिखने के किन दो कारणों का उल्लेख किया है?
2. कविता रचने की किस प्रवृत्ति को कवि बुरा मानता है?
3. हिंदी कविता के किस काल विशेष में आकाश, तारे, चाँदनी, फेन, बुदबुद आदि विषयों पर कविताएँ लिखी गई ?

4. स्वांग रचने से कवि का क्या आशय है?
5. कविता की किन पंक्तियों में अनुभव की प्रामाणिकता को महत्त्व दिया गया है?

लिखित

1. कवि के अनुसार काव्य-रचना का वास्तविक उद्देश्य क्या होना चाहिए?
2. ज़मीनी यथार्थ से जुड़ी कविता से क्या आशय है और कवि इसे श्रेयस्कर क्यों मानता है?
3. 'गालों पर से फूलों का पराग धो डालने' का क्या आशय है?
4. निम्नलिखित पंक्तियों के द्वारा कवि क्या प्रेरणा देना चाहता है —

   (क) मानो, मनुष्य नीचे हो तुमसे बहुत दूर,
   मानो, कोई देवता, तुम्हारे स्वर में हो।

   (ख) तुम पल भर को केवल मनुष्य बन जाओ तो।
5. 'केवल समस्याओं की ओर संकेत करना पर्याप्त नहीं, कवि को समाधान भी सुझाना चाहिए' — इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।
6. आशय स्पष्ट कीजिए —

   (क) तुतले कंपन उठते हैं जिस गहराई से,
   अपने भीतर क्या कभी उसे पहचाना है?

   (ख) अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
   जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को?
7. कविता में अस्पष्ट भाषा के प्रयोग का क्या परिणाम होता है?
8. 'गंदे जल वाले तालाब की गहराई का पता नहीं चलता' — कवि का यह विचार किस ओर संकेत करता है?
9. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —

   (क) जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल,
   असली निदान पर जड़े वज्र के ताले हैं,
   उत्तर, शायद, हो छिपा मूकता के भीतर,
   हम तो प्रश्नों का रूप सजाने वाले हैं।

   (ख) मिहिका रचते हो? रचो, किंतु क्या फल इसका?
   खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है?
   लेकिन, मनुष्य की द्वाभा और सघन होती,
   धरती की किस्मत और भरमती जाती है।

योग्यता-विस्तार

1. 'छायावाद का रथ युधिष्ठिर के रथ की भाँति धरती से सदैव चार अंगुल ऊपर चलता था।' छायावादी कविता के विषय में किसी आलोचक के इस कथन पर कक्षा में चर्चा कीजिए।
2. 'कविता में अतिशय काल्पनिकता के स्थान पर जीवन के यथार्थ का चित्रण वांछित है।' इस विषय पर दस वाक्यों में अपने विचार प्रकट कीजिए।

किसको नमन करूँ मैं?

मौखिक

1. कवि के मन में क्या द्वंद्व है?
2. 'तू वह' के तीन बार प्रयोग से कविता के अर्थ में क्या उत्कर्ष हुआ है?
3. कविता की किन पंक्तियों में आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छू लेने का संकेत हुआ है?
4. 'गंध-निकेतन' और 'अदृश्य उपवन' कवि ने किसे कहा है?
5. भारत को दुनिया भर का शील बताने के पीछे कवि का क्या आशय है?

लिखित

1. भारत की देह और भारत के मन से कवि का क्या अभिप्राय है?
2. कवि भारत के किस स्वरूप को नमन करना चाहता है?
3. कैसे देश को कवि ने कुत्सित माना है और क्यों?
4. निम्नलिखित पंक्तियों का आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना
   (ख) निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है
   (ग) समरसता को लिए प्रवाहित शीत स्निग्ध जीवन है।
5. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
   एक देश का नहीं शील यह भूमंडल भर का है।
   जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
   देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
6. पठित कविताओं के आधार पर दिनकर की काव्यगत विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

योग्यता-विस्तार

'जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र की विविधताओं के बीच भी भारत एक है' — विषय पर कक्षा में एक परिचर्चा का आयोजन कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

तुम क्यों लिखते हो?

अंतरतम	-	हृदय, अंतःकरण
टकटकी लगाना	-	अपलक देखना, एकटक देखना
सनसनी	-	भय, आश्चर्य के कारण उत्पन्न आवेग
बुदबुद	-	बुलबुला
सोपान	-	सीढ़ी
निदान	-	समाधान, हल, उपाय
वज्र	-	कठोर
वृथा स्वांग	-	बेकार के दिखावे, पाखंड
मिहिका	-	कुहासा, अस्पष्टता
द्वाभा	-	दुविधा, प्रातःकाल अथवा संध्या के समय का धूमिल प्रकाश जिसमें उजाले और अँधेरे का मेल दिखाई पड़ता है।
आनन अपर	-	मुखौटा

किसको नमन करूँ मैं?

नदीश	-	समुद्र
नभश्चरण	-	आकाश पर विचरने की कल्पना
निगूढ़ता	-	गहन रहस्य
जड़ता	-	निर्जीवता, मूढ़ता
गंध-निकेतन	-	नाना प्रकार की सुगंध से पूर्ण स्थान
कुत्सित	-	घृणित
समरसता	-	समानता
दिग्बंधन	-	दिशाओं का बंधन, सीमाएँ
रुचिर	-	सुंदर
नर	-	मानव
भास्वर	-	प्रकाशित, चमकीला

20 गजानन माधव मुक्तिबोध
(1917-1964)

गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म श्योपुर (ग्वालियर, मध्य प्रदेश) कसबे में हुआ था। उनके पिता पुलिस में सब-इंस्पेक्टर थे। बार-बार पिता की बदली होते रहने के कारण मुक्तिबोध की पढ़ाई का क्रम टूटता-जुड़ता रहा, फिर भी 1954 ई. में उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. किया। पिता के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण उनमें ईमानदारी, न्यायप्रियता और दृढ़ इच्छाशक्ति के गुण विकसित हुए। लंबे समय तक **नया खून** (साप्ताहिक) का संपादन करने के बाद उन्होंने दिग्विजय महाविद्यालय, राजनाँदगाँव (मध्य प्रदेश) में अध्यापन कार्य किया और बाद में हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने।

मुक्तिबोध का पूरा जीवन संघर्षों और विरोधों से भरा रहा। उन्होंने मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद आदि अनेक आधुनिक विचारधाराओं का अध्ययन किया जिसका प्रभाव उनकी कविताओं पर दिखाई देता है। पहली बार उनकी कविताएँ सन 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित **तारसप्तक** में छपीं। कविता के अतिरिक्त उन्होंने कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि विधाओं में भी लिखा। उन्होंने कला, संस्कृति, समाज, राजनीति आदि से संबंधित अनेक लेख भी लिखे।

मुक्तिबोध नई कविता के प्रमुख कवि हैं। उनकी संवेदना और ज्ञान का दायरा अत्यंत व्यापक है। गहन विचारशीलता और विशिष्ट काव्य-शिल्प के कारण उनकी कविता की एक अलग पहचान है। स्वतंत्र भारत के मध्यवर्ग की ज़िंदगी की विडंबनाओं और विद्रूपताओं का चित्रण उनकी कविता में है और साथ ही एक बेहतर मानवीय समाज-व्यवस्था के निर्माण की आकांक्षा भी। मुक्तिबोध की कविता की एक बड़ी विशेषता है आत्मालोचन की प्रवृत्ति। उनकी कविताओं में बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग है और फैंटेसी के शिल्प का उपयोग भी। उन्होंने फैंटेसी के माध्यम से ही प्रायः लंबी कविताओं की रचना की है इसीलिए वे फैंटेसी के कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं।

मुक्तिबोध की कविताओं के प्रमुख संग्रह हैं — **चाँद का मुँह टेढ़ा है, भूरी-भूरी खाक धूल।** छह खंडों में प्रकाशित **मुक्तिबोध रचनावली** में उनकी सारी रचनाएँ प्रकाशित हैं, जिनमें कविताओं के अतिरिक्त कहानियाँ, उपन्यास, आलोचना, डायरी निबंध, पत्र आदि हैं।

यहाँ संकलित पहली कविता **मुझे कदम-कदम पर** में कवि-मन के संकट को व्यक्त किया गया है। इस बात का विश्लेषण किया गया है कि आज रचनाकार के लिए विषयों की कमी नहीं है। कदम-कदम पर उन्हें कविता, कहानी, उपन्यास के विषय मिल जाते हैं। लेकिन रचनाकारों को विषय की बहुलता और दृष्टि की संकीर्णता के कारण चुनाव के संकट का सामना करना पड़ता है।

दूसरी कविता **ओ मेरे मन** मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता **अँधेरे में** का अंश है। इस कवितांश में कवि ने आत्मसाक्षात्कार और आत्मालोचन द्वारा समकालीन भारतीय समाज के मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन की विडंबनापूर्ण स्थिति की अभिव्यक्ति की है।

मुझे कदम-कदम पर

मुझे कदम-कदम पर
चौराहे मिलते हैं
बाँहें फैलाए!!

एक पैर रखता हूँ
कि सौ राहें फूटतीं,
व मैं उन सब पर से गुज़रना चाहता हूँ;
बहुत अच्छे लगते हैं
उनके तजुर्बे और अपने सपने...
सब सच्चे लगते हैं,
अजीब-सी अकुलाहट दिल में उभरती है,
मैं कुछ गहरे में उतरना चाहता हूँ,
जाने क्या मिल जाए!!

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है,
हर एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य-पीड़ा है,
पल भर मैं सब में से गुज़रना चाहता हूँ,
प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ,
इस तरह खुद ही को दिए-दिए फिरता हूँ,
अजीब है ज़िंदगी!!

बेवकूफ़ बनने के खातिर ही
सब तरफ़ अपने को लिए-लिए फिरता हूँ,
और यह देख-देख बड़ा मज़ा आता है
कि मैं ठगा जाता हूँ...
हृदय में मेरे ही,
प्रसन्न-चित्त एक मूर्ख बैठा है
हँस-हँस कर अश्रुपूर्ण, मत्त हुआ जाता है,
कि जगत... स्वायत्त हुआ जाता है।

कहानियाँ लेकर और
मुझको कुछ देकर ये चौराहे फैलते
जहाँ ज़रा खड़े होकर
बातें कुछ करता हूँ...
... उपन्यास मिल जाते।

दुख की कथाएँ, तरह-तरह की शिकायतें,
अहंकार-विश्लेषण, चारित्रिक आख्यान,
ज़माने के जानदार सूरे व आयतें
सुनने को मिलती हैं।

कविताएँ मुसकरा लाग-डाँट करती हैं,
प्यार बात करती हैं।
मरने और जीने की जलती हुई सीढ़ियाँ
श्रद्धाएँ चढ़ती हैं !!

घबराए प्रतीक और मुसकाते रूप-चित्र
लेकर मैं घर पर जब लौटता...

उपमाएँ, द्वार पर आते ही कहती हैं कि
सौ बरस और तुम्हें
जीना ही चाहिए।

घर पर ही, पग-पग पर चौराहे मिलते हैं,
बाँहें फैलाए रोज़ मिलती हैं सौ राहें,
शाखा-प्रशाखाएँ निकलती रहती हैं,
नव-नवीन रूप-दृश्य वाले सौ-सौ विषय
रोज़-रोज़ मिलते हैं...
और, मैं सोच रहा कि
जीवन में आज के
लेखक की कठिनाई यह नहीं कि
कमी है विषयों की
वरन् यह कि आधिक्य उनका ही
उसको सताता है,
और, वह ठीक चुनाव नहीं कर पाता है!

ओ मेरे मन

ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धांतवादी मन,
अब तक क्या किया?
जीवन क्या जिया!!

उदरंभरि बन अनात्म बन गए,
भूतों की शादी में कनात-से तन गए,
किसी व्यभिचारी के बन गए बिस्तर,

दुखों के दागों को तमगों-सा पहना,
अपने ही खयालों में दिन-रात रहना,
असंग बुद्धि व अकेले में सहना,
ज़िंदगी निष्क्रिय बन गई तलघर,

अब तक क्या किया,
जीवन क्या जिया!!

बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड़ गए,
करुणा के दृश्यों से हाय! मुँह मोड़ गए,
बन गए पत्थर,
बहुत-बहुत ज़्यादा लिया,
दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम!!

लोक-हित-पिता को घर से निकाल दिया,
जन-मन-करुणा-सी माँ को हंकाल दिया,
स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्तव्य त्याग दिए,
हृदय के मंतव्य मार डाले!
बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया,
तर्कों के हाथ उखाड़ दिए,
जम गए, जाम हुए, फँस गए,
अपने ही कीचड़ में धँस गए!!
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में
आदर्श खा गए।

प्रश्न-अभ्यास

मुझे कदम-कदम पर

मौखिक

1. कवि के अनुसार विषय-चयन के बारे में आज के लेखक की क्या कठिनाई है?
2. कवि को किन कारणों से भ्रम हो रहा है?

लिखित

1. स्पष्ट कीजिए कि लेखक के हृदय में बैठा 'मूर्ख' कौन है और वह मत्त क्यों हो रहा है?
2. कवि को क्यों लगता है कि उसे सौ बरस और जीना ही चाहिए?
3. कदम-कदम पर असंख्य विषय मिलने पर भी न लिख पाने की विवशता को स्पष्ट कीजिए।
4. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) मुझे कदम-कदम पर चौराहे मिलते हैं
   (ख) ज़माने के जानदार सूरे व आयतें सुनने को मिलती हैं।
   (ग) एक पैर रखता हूँ कि सौ राहें फूटतीं,
5. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   (क) कविताएँ मुसकरा लाग-डाँट करती हैं,
   प्यार बात करती है।
   मरने और जीने की जलती हुई सीढ़ियाँ
   श्रद्धाएँ चढ़ती हैं!
   (ख) हर एक छाती में आत्मा अधीरा है,
   प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
   मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
   महाकाव्य-पीड़ा है,

योग्यता-विस्तार

मुक्तिबोध **तारसप्तक** के कवि हैं। **तारसप्तक** के अन्य कवियों के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए।

ओ मेरे मन

मौखिक

1. उन पंक्तियों को उद्धृत कीजिए जिनमें अब तक के जीवन पर कवि की खीझ और झुँझलाहट व्यक्त हुई है।
2. निष्क्रिय जीवन को 'तलघर' क्यों कहा गया है?
3. समाज से हम अधिक अपेक्षाएँ करते हैं और बदले में उसे बहुत कम देते हैं — इससे हमारे चरित्र की कौन-सी विशेषता उजागर होती है?

लिखित

1. **ओ मेरे मन** कविता में आदर्शवादी, सिद्धांतवादी मन को संबोधित तो किया गया है किंतु कविता वास्तव में आदर्शहीन और सिद्धांतहीन व्यक्ति की करतूतों का कच्चा चिट्ठा खोलती है — इस कथन पर कविता से उदाहरण देते हुए टिप्पणी कीजिए।
2. जीवन के प्रति कवि के क्षोभ का क्या कारण है, उसे आप कहाँ तक उचित समझते हैं?
3. 'अपने ही कीचड़ में धँस गए' — कथन का औचित्य स्पष्ट कीजिए।
4. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —

   (क) दुखों के दागों को तमगों-सा पहना,
   अपने ही खयालों में दिन-रात रहना,
   असंग बुद्धि व अकेले में सहना,
   ज़िंदगी निष्क्रिय बन गई तलघर,

   (ख) लोक- हित-पिता को घर से निकाल दिया,
   जन-मन करुणा-सी माँ को हंकाल दिया,
   स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया,
   भावना के कर्तव्य त्याग दिए,
   हृदय के मंतव्य मार डाले!
5. काव्य सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —

   (क) उदरंभरि बन अनात्म बन गए,
   भूतों की शादी में कनात-से तन गए,

   (ख) लोक-हित-पिता को घर से निकाल दिया,
   जन-मन-करुणा-सी माँ को हंकाल दिया,
6. पठित कविताओं के आधार पर मुक्तिबोध की काव्य-भाषा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

7. आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) किसी व्यभिचारी के बन गए बिस्तर,
   (ख) विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में
   (ग) तर्कों के हाथ उखाड़ दिए

योग्यता-विस्तार

निर्धारित पाठ्यपुस्तक **हिंदी साहित्य का इतिहास : सामान्य परिचय** में मुक्तिबोध और उसकी कविता के बारे में पढ़िए और 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में मुक्तिबोध का योगदान' विषय पर एक अनुच्छेद लिखिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

मुझे कदम-कदम पर

चौराहे मिलते हैं - विभिन्न दिशाओं की ओर जाते मार्ग मिलते हैं, रचना के लिए अनेक विषय (भाव-विचार) प्राप्त होते हैं

बाँहें फैलाए - प्रत्येक मार्ग आकर्षक लगता है

अकुलाहट - बेचैनी

सुस्मित - सुंदर मुसकान

सदानीरा - सदा जल से भरी हुई नदी

स्वायत्त - स्वशासित, मुक्त

सूरे व आयतें - कुरान के अध्याय और वाक्य

लाग-डाँट - होड़, वैमनस्य

ओ मेरे मन

उदरंभरि - उदरपूर्ति (पेट भरना) को जीवन का लक्ष्य समझने 1वाले

अनात्म - जड़, संवेदन-शून्य

कनात - किसी खुले स्थान को घेरने के लिए बनाई गई कपड़े की दीवार, संरक्षण अथवा प्रश्रय देना

तमगा - पदक, सम्मान

असंग - सबसे अलग रहना

निष्क्रिय - निकम्मा

हंकाल दिया	-	हांक दिया, निकाल दिया
टेरियार	-	शिकारी कुत्ते की एक प्रजाति
मंतव्य	-	अभिप्राय
भाल	-	माथा
जम गए जाम हुए	-	गतिशीलता नष्ट हो गई
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में	-	स्वार्थ के कारण भले-बुरे की पहचान खो दी

21 शमशेर बहादुर सिंह
(1911-1993)

शमशेर बहादुर सिंह का जन्म देहरादून (उत्तरांचल) में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा देहरादून में ही हुई। उन्होंने सन 1933 में बी.ए. और सन 1938 में एम.ए. प्रथम वर्ष इलाहाबाद विश्वविद्यालय से किया। सन 1935-36 में उन्होंने प्रसिद्ध चित्रकार उकील बंधुओं से चित्रकला का प्रशिक्षण लिया। सन 1939 में ***रूपाभ*** *पत्रिका में सहायक के रूप में काम किया। फिर* ***कहानी, नया साहित्य, कम्यून, माया, नया पथ, मनोहर कहानियाँ*** *आदि कई पत्रिकाओं में संपादन-सहयोग दिया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की महत्त्वपूर्ण योजना के अंतर्गत उन्होंने सन 1965-77 में उर्दू-हिंदी कोश का संपादन किया। वे सन 1981-1985 तक मध्य प्रदेश शासन के संस्कृति विभाग द्वारा विक्रम विश्वविद्यालय के अंतर्गत स्थापित प्रेमचंद सृजन पीठ के अध्यक्ष रहे।*

शमशेर बहादुर सिंह सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं। इसके साथ-साथ उनकी कविताओं में समकालीन सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का कलात्मक चित्रण हुआ है। काव्य-वस्तु के चयन और शिल्प-गठन में उनकी सूझ-बूझ और कौशल का उत्कर्ष दिखता है। शमशेर की कविताओं के शब्द रंग भी हैं और रेखाएँ भी। अनूठे काव्य-बिंबों का सृजन करने वाले वे असाधारण कवि हैं। उनके स्वर में दर्द है, ताकत है, प्रेम की पीड़ा है, जीवन की विडंबना है और जगत की विषमता भी है। ये सारी स्थितियाँ पाठकों को नई दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करती हैं। कुछ लोग उन्हें कवियों का कवि भी कहते हैं।

उनकी कविताओं का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हुआ है। उन्हें ***साहित्य अकादमी सम्मान, कबीर सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान*** *सहित अनेक साहित्यिक सम्मानों से विभूषित किया गया।*

शमशेर की काव्य कृतियों में प्रमुख हैं — ***कुछ कविताएँ, कुछ और कविताएँ, चुका भी हूँ नहीं मैं, इतने पास अपने, उदिता, बात बोलेगी, काल तुझसे होड़ है मेरी।***

हिंदी में समुद्र पर लिखी गई श्रेष्ठ कविताओं में ***सागर-तट*** *का विशेष स्थान है। इस कविता में कवि ने सागर के उदात्त और गतिशील सौंदर्य का चित्रात्मक वर्णन किया है।*

कवि ने चाँदनी रात में समुद्र की विशाल लहरों के उत्थान-पतन, उनके रूप-रंग और क्रिया-कलापों का सजीव और मूर्त शब्द-चित्र खींचा है। साथ ही इसमें कवि के मन पर पड़े समुद्र के सौंदर्य और लीला के प्रभावों का भी अंकन है।

दूसरी कविता **जन-मन के लिए** में शमशेर की जन सामान्य के प्रति अडिग आस्था की अभिव्यक्ति हुई है। कवि जनता के जीवन-संघर्ष के साथ गहरी एकता का अनुभव करते हुए उसके दुख-दर्द से सहानुभूति व्यक्त करता है। समाज में घटती मानवीय संवेदना के प्रति कवि की चिंता भी यहाँ प्रकट हुई है।

सागर-तट

यह समंदर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का —
अति कठोर पहाड़।

पी गया हूँ दृश्य वर्षा का :
हर्ष बादल का
हृदय में भरकर हुआ हूँ हवा-सा हलका :

धुन रही थीं सर
व्यर्थ व्याकुल मत्त लहरें
वहीं आ-आकर
जहाँ था मैं खड़ा
मौन :
समय के आघात से पोली, खड़ी दीवारें
जिस तरह घहरें
एक के बाद एक, सहसा।

चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
क्रोशिए से बुन रही थीं चपल
फेन-झालर बेल, मानो।

पंक्तियों में टूटती-गिरती
चाँदनी में लोटती लहरें
बिजलियों-सी कौंधती लहरें
मछलियों-सी बिछल पड़ती तड़पती लहरें
बार-बार।

स्वप्न में रौंदी हुई-सी विकल-सिकता
पुतलियों-सी मूँद लेती
आँख।

यह समंदर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का —
अति कठोर पहाड़।
यह समंदर की पछाड़।

जन-मन के लिए

भाव थे जो शक्ति-साधन के लिए,
लुट गए किस आंदोलन के लिए!
यह सलामी दोस्तों को है, मगर
मुट्ठियाँ तनती हैं दुश्मन के लिए!
धूल में हमको मिला दो, किंतु आह,
चालते हैं धूल कन-कन के लिए।
तन ढँका जाएगा धागों से, परंतु
लाज भी तो चाहिए तन के लिए।

नाज पकने पर खुले आकाश से
बिजलियाँ गिरती हैं निर्धन के लिए।
संकुचित है आज जीवन का हृदय
व्यक्ति-मन रोता है जन-मन के लिए।

प्रश्न-अभ्यास

सागर-तट

मौखिक

1. सागर तट का हाड़ किसे कहा गया है?
2. 'हवा-सा हलका' होने से कवि का क्या आशय है?
3. लहरों की उपमा बिजलियों और मछलियों से क्यों दी गई है?

लिखित

1. कवि की अतिशय आनंदानुभूति के कारण को स्पष्ट कीजिए।
2. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   यह संमदर की पछाड़
   तोड़ती है हाड़ तट का —
   अति कठोर पहाड़।
   पी गया हूँ दृश्य वर्षा का :
   हर्ष बादल का
   हृदय में भरकर हुआ हूँ हवा-सा हलका :
3. बालू को स्वप्न में रौंदी हुई-सी क्यों कहा गया है?
4. काव्य सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —
   (क) चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
   क्रोशिए से बुन रही थीं चपल
   फेन-झालर बेल, मानो।
   (ख) पंक्तियों में टूटती-गिरती
   चाँदनी में लोटती लहरें

बिजलियों-सी कौंधती लहरें
मछलियों-सी बिछल पड़ती तड़पती लहरें
बार-बार।

5. इस कविता को पढ़कर आपके समक्ष लहरों का जो सौंदर्य उभरता है उसका वर्णन कीजिए।

योग्यता-विस्तार

1. अज्ञेय की **सागर मुद्रा** पुस्तक पढ़िए। उसमें से इस कविता की समभावी पंक्तियों को चुनिए।
2. जयशंकर प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों की तुलना प्रस्तुत कविता से कीजिए —
उधर गरजती सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलती, फन फैलाए व्यालों-सी।

जन-मन के लिए

मौखिक

1. मित्र और शत्रु के प्रति कवि कैसा व्यवहार करना चाहता है?
2. प्राकृतिक आपदाओं के आने पर समाज के किस वर्ग को सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है?

लिखित

1. कवि अपने भावों को लुटा हुआ क्यों मानता है?
2. किन कठिन स्थितियों में भी कवि अपना अस्तित्व बनाए रखने का संकल्प प्रकट करता है?
3. तन ढँकने के लिए वस्त्र अपर्याप्त कब हो जाते हैं और क्यों?
4. आज मानव-हृदय संकुचित होता जा रहा है — इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
5. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
नाज पकने पर खुले आकाश से
बिजलियाँ गिरती हैं निर्धन के लिए।
संकुचित है आज जीवन का हृदय
व्यक्ति-मन रोता है जन-मन के लिए।

योग्यता-विस्तार

दुष्यंत कुमार का ग़ज़ल संग्रह **साए में धूप** पढ़िए और उन ग़ज़लों को भित्ति पत्रिका पर प्रदर्शित कीजिए जिनके भाव प्रस्तुत कविता से मिलते-जुलते हों।

शब्दार्थ और टिप्पणी

सागर-तट

पछाड़	–	लहरों का टकराना
हाड़	–	चट्टानी तट
पोली	–	खोखली
घहराना	–	भारी आवाज़ के साथ अचानक गिरना
बिछलना	–	फिसलना
सिकता	–	बालू, रेत

जन-मन के लिए

मुट्ठियाँ तनना	–	आक्रोश, विरोध प्रकट करना
चालना	–	छानना
नाज	–	अनाज
बिजलियाँ गिरना	–	विपत्तियाँ आना

22 नागार्जुन
(1911-1998)

तरौनी ग्राम (मधुबनी, बिहार) के निवासी, नागार्जुन का जन्म अपने ननिहाल सतलखा (ज़िला-दरभंगा) में हुआ था। उनका मूल नाम वैद्यनाथ मिश्र था। नागार्जुन की प्रारंभिक शिक्षा स्थानीय संस्कृत पाठशाला में हुई। बाद में इस निमित्त वाराणसी और कोलकाता भी गए। सन 1936 में वे श्रीलंका गए और वहीं पर बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। सन 1938 में वे स्वदेश वापस आए। फक्कड़पन और घुमक्कड़ी उनके जीवन की प्रमुख विशेषता रही है। उन्होंने कई बार संपूर्ण भारत का भ्रमण किया।

राजनीतिक कार्यकलापों के कारण कई बार उन्हें जेल भी जाना पड़ा। सन 1935 में उन्होंने **दीपक** (हिंदी मासिक) तथा 1942-43 में **विश्वबंधु** (साप्ताहिक) पत्रिका का संपादन किया। अपनी मातृभाषा मैथिली में वे 'यात्री' के नाम से रचना करते रहे। मैथिली में नवीन भावबोध की रचनाओं का प्रारंभ उनके महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह **चित्रा** से माना जाता है। नागार्जुन ने संस्कृत तथा बँगला में भी काव्य-रचना की है।

लोकजीवन, प्रकृति और समकालीन राजनीति काव्य-वस्तु के रूप में उनकी रचनाओं की नस-नस में रची-बसी है। विषय की जितनी विविधता और प्रस्तुति की जितनी सहजता नागार्जुन के रचना-संसार में है, उतनी शायद ही कहीं और हो। छायावादोत्तर काल के वे अकेले जनकवि हैं जिनकी रचनाएँ ग्रामीण चौपाल से लेकर विद्वानों की बैठक तक में समान रूप से आदर पाती हैं। जटिल से जटिल विषय पर लिखी गई उनकी कविताएँ इतनी सहज, संप्रेषणीय और प्रभावशाली होती हैं कि वे पाठकों के मानस लोक में बस जाती हैं। नागार्जुन की कविता में धारदार व्यंग्य मिलता है। जनता के हितों के प्रति उनके कवि का समर्पण उनकी कविता की मुख्य विशेषता है।

उन्होंने विभिन्न छंदों में काव्य-रचना की है और मुक्त छंद में भी। उनकी काव्य-भाषा में एक ओर संस्कृत काव्य परंपरा की प्रतिध्वनि मिलती है तो दूसरी ओर बोलचाल की भाषा की रवानी और जीवंतता।

पत्रहीन नग्न गाछ (मैथिली कविता संग्रह) पर उन्हें **साहित्य अकादमी पुरस्कार** प्रदान किया गया। वे उत्तर प्रदेश के **भारत-भारती**, मध्य प्रदेश के **मैथिलीशरण गुप्त**, बिहार सरकार के **राजेंद्र प्रसाद पुरस्कार** से भी सम्मानित किए गए। उन्हें दिल्ली हिंदी अकादमी का **शिखर सम्मान** भी मिला।

उनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं — **युगधारा, प्यासी पथराई आँखें, सतरंगे पंखों वाली, तालाब की मछलियाँ, हज़ार-हज़ार बाहों वाली, तुमने कहा था, पुरानी जूतियों का कोरस, आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने, रत्नगर्भा, ऐसे भी हम क्या : ऐसे भी तुम क्या, पका है कटहल, मैं मिलटरी का बूढ़ा घोड़ा, भस्मांकुर** (खंडकाव्य)। **बलचनमा, रतिनाथ की चाची, कुंभी पाक, उग्रतारा, जमनिया का बाबा, वरुण के बेटे** जैसे उनके उपन्यास विशेष महत्त्व के हैं।

बातें शीर्षक कविता में नागार्जुन ने समाज और मनुष्य के जीवन में बातों की अनिवार्यता और उनके विभिन्न प्रकारों, स्वभावों तथा प्रभावों की ओर संकेत किया है। कवि की दृष्टि में कविता करना भी एक प्रकार से बात करना ही है, लेकिन उसके लिए ऐसा काव्य-विवेक आवश्यक है जो समाज के लिए हितकर और अहितकर बातों में अंतर कर सके।

खुरदरे पैर कविता में जनकवि नागार्जुन ने एक रिक्शा चालक की फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैरों का वर्णन करते हुए श्रम के महत्त्व की स्थापना की है। प्रायः कोमल कल्पनाओं और भावनाओं की दुनिया में विचरण करने वाले कवि-मन को भी खुरदरे पैरों की यह कठोर वास्तविकता विचलित करती है।

बादल नागार्जुन की कविता का प्रिय विषय है। **घन-कुरंग** नामक इस प्रगीत में उन्होंने बादलों को चंचल मृग-शावक के रूप में कल्पित करते हुए उनके बनते-बदलते विभिन्न रूपरंगों और क्रिया-कलापों को चित्रित किया है। इस कविता में सहज भाषा के साथ संगीतमयता तथा चित्रमयता का योग है।

बातें

बातें —
हँसी में धुली हुईं
सौजन्य चंदन में बसी हुईं
बातें —
चितवन में घुली हुईं
व्यंग्य बंधन में कसी हुईं
बातें —
उसाँस में झुलसीं
रोष की आँच में तली हुईं
बातें —
चुहल में हुलसीं
नेह-साँचें में ढली हुईं
बातें —
विष की फुहार-सी
बातें —
अमृत की धार-सी
बातें —
मौत की काली डोर-सी
बातें —
जीवन की ....दूधिया हिलोर-सी
बातें —
अचूक वरदान-सी

बातें —
घृणित नाबदान-सी
बातें —
फल प्रसू, सुशोभन, फूल-सी
बातें —
अमंगल, विषगर्भ शूल-सी
बातें —
क्या करूँ मैं इनका?
मान लूँ कैसे इन्हें तिनका?
बातें —
यह अपनी पूँजी, यही अपने औज़ार
यही अपने साधन, यही अपने हथियार
बातें —
साथ नहीं छोड़ेंगी मेरा
बना लूँ वाहन इन्हें घुटन का, घिन का?
क्या करूँ मैं इनका?
बातें —
साथ नहीं छोड़ेंगी मेरा
स्तुति करूँ रात की, ज़िक्र न करूँ दिन का?
क्या करूँ मैं इनका?

खुरदरे पैर

खुब गए
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयोंवाले खुरदरे पैर

धँस गए
कुसुम-कोमल मन में
गुट्ठल घट्ठोंवाले कुलिश-कठोर पैर

दे रहे थे गति
रबड़-विहीन ठूँठ पैडलों को
चला रहे थे
एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन चक्र
कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे!

देर तक टकराए
उस दिन इन आँखों से वे पैर
भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
खुब गईं दूधिया निगाहों में
धँस गईं कुसुम-कोमल मन में

घन-कुरंग

नभ में चौकड़ियाँ भरें भले
शिशु घन-कुरंग
खिलवाड़ देर तक करें भले
शिशु घन-कुरंग
लो, आपस में गुँथ गए खूब
शिशु घन-कुरंग

लो, घटा जाल में गए डूब
शिशु घन-कुरंग
लो, बूँदें पड़ने लगीं, वाह
शिशु घन-कुरंग
लो कब की सुधियाँ जगीं, आह
शिशु घन-कुरंग
पुरवा सिहकी, फिर दीख गए
शिशु घन-कुरंग
शशि से शरमाना सीख गए
शिशु घन-कुरंग

प्रश्न-अभ्यास

बातें

मौखिक

1. कवि ने हास की निर्मलता की उपमा किससे दी है?
2. किस प्रकार का हास मनोमालिन्य को धो देता है?
3. कवि ने सौजन्य को चंदन क्यों कहा है?
4. हम दृष्टि के माध्यम से कब बोलते हैं?
5. उसाँस में झुलसीं तथा रोष की आँच में तली हुई — कविता के संदर्भ में 'झुलसने' तथा 'तलने' में अंतर स्पष्ट कीजिए।
6. किस प्रकार की बातों से मन प्रफुल्लित हो उठता है?

लिखित

1. बातों के कौन से रूप आह्लादकारी स्थितियों को चित्रित करते हैं और कौन से रूप अप्रिय एवं कष्टकर स्थितियों को?
2. कविता में परस्पर विरोधी स्थितियों को इंगित करने वाली पंक्तियों को छाँटिए और उनके भाव-सौंदर्य पर प्रकाश डालिए।

3. कवि बातों को तुच्छ मानने के लिए तैयार क्यों नहीं है?
4. संपूर्ण कविता के आधार पर बताइए कि बातें किन-किन स्थितियों में क्या-क्या रूप धारण कर लेती हैं और वे मानव-जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं?
5. बातों के संदर्भ में निम्नलिखित उपमानों के सौंदर्य पर टिप्पणी कीजिए —
   (क) रोष की आँच में तली हुई
   (ख) विष की फुहार-सी
   (ग) अमृत की धार-सी
   (घ) फल-प्रसू, सुशोभन, फूल-सी

योग्यता-विस्तार

एक ही विषय पर विभिन्न कवि अलग-अलग विचार प्रस्तुत करते आए हैं। **बातें** विषय पर रचित निम्नलिखित कविता ऐसी ही एक रचना है। इस कविता की तुलना प्रस्तुत कविता से करते हुए दोनों की अपनी-अपनी विशेषताओं पर कक्षा में चर्चा कीजिए।

बातें और बातें और बातें और बातें।
बातों में बीते दिन, बातों में रातें।
  बातों ही बातों में दुश्मन सब मारे।
  जीवन सब काट दिया बात के सहारे।
  बातों की योजना और योजना की बातें।।
  बातें और बातें....................
  बातों से गूँज रहा घर और परिवेश।
  बातों की दीमक ने चाट लिया देश।
  बातों में मीत-भाव बातों में घातें।।
  बातें और बातें.....................

— मानसिंह वर्मा

खुरदरे पैर

मौखिक

1. कवि किसके खुरदरे पैरों की बात कर रहा है?
2. रिक्शा चालक के पैरों में बिवाइयाँ और गाँठों से भरे घट्ठे क्यों पड़ गए थे?
3. कवि ने रिक्शा चालक के पैरों की तुलना किसके पैरों से की है?

लिखित

1. रिक्शा चालक के खुरदरे पैर त्रिविक्रम वामन को कैसे मात दे रहे थे?
2. कवि ने अपने मन और दृष्टि के लिए किन उपमानों का प्रयोग किया है और क्यों?
3. 'घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे' से कवि किस कटु सत्य की ओर संकेत करता है?
4. कवि को क्यों लगता है कि वह रिक्शा चालक के बिवाई पड़े पैरों को भूल नहीं पाएगा?
5. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —

   देर तक टकराए
   उस दिन इन आँखों से वे पैर
   भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ
   खुब गईं दूधिया निगाहों में
   धँस गईं कुसुम-कोमल मन में

योग्यता-विस्तार

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की **भिक्षुक** कविता पढ़िए और प्रस्तुत कविता से उसकी तुलना कीजिए।

घन-कुरंग

मौखिक

1. कविता की कौन-सी पंक्ति बादलों के एक जगह टिके न रहने की ओर संकेत करती है?
2. वर्षा की बूँदों का मानव-मन पर क्या प्रभाव पड़ता है?
3. 'शिशु घन-कुरंग' कब दिखाई नहीं देते हैं?

लिखित

1. बादलों को कवि ने मृगशावक क्यों माना है?
2. वर्षा के आने से पुरानी यादें क्यों जाग उठती हैं?
3. वर्षा की बूँदों के साथ 'वाह' और स्मृतियों के साथ 'आह' से क्या व्यंजित होता है?
4. कविता की प्रत्येक पंक्ति के अंत में 'घन-कुरंग' की आवृत्ति से क्या सौंदर्य उभरा है?
5. कविता के प्रस्तुत दृश्य-बिंबों में से कौन-सा बिंब आपको अधिक प्रभावी लगा और क्यों?
6. भाव-सौंदर्य स्पष्ट कीजिए —

   पुरवा सिहकी, फिर दीख गए
   शिशु घन-कुरंग
   शशि से शरमाना सीख गए
   शिशु घन-कुरंग

योग्यता-विस्तार

बादलों के सौंदर्य के विविध रूपों का अनेक कवियों ने वर्णन किया है। अपने अध्यापक की सहायता से ऐसी कुछ कविताओं का चयन करके उन्हें एक पत्रिका के रूप में प्रस्तुत कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

बातें

सौजन्य - सहयोगपूर्ण व्यवहार
चितवन - दृष्टि
उसाँस - दुख को व्यक्त करती हुई ठंडी साँस
नाबदान - थूकने के लिए प्रयुक्त पात्र, पीकदान
फल प्रसू - फल को जन्म देने वाली, कल्याणकारी

खुरदरे पैर

खुब गए - चुभ गए
दूधिया निगाह - कोमल तथा सुखपूर्ण जीवन
गुट्ठल घट्ठोंवाले - लगातार घिसने से बने गुठलीनुमा दागों वाले
कुलिश-कठोर - वज्र के समान कठोर
त्रिविक्रम - वामन अवतार में तीन पैर में तीनों लोक नापने वाले विष्णु (यहाँ रिक्शा चालक)
अनहद - सीमाहीन
घंटों के हिसाब से ढोना - रिक्शा चालक प्रायः रिक्शा का मालिक नहीं होता, बल्कि वह रिक्शा के स्वामी से किराए पर रिक्शा लेता है और निर्धारित समय के पश्चात निर्धारित राशि सौंपकर रिक्शा लौटा देता है

घन-कुरंग

घन-कुरंग - बादल रूपी मृग
सुधियाँ - स्मृतियाँ
पुरवा - वर्षा ऋतु में पूर्व दिशा से बहने वाली हवा
सिहकी - सहमती-सी चली

23 कुमार विकल
(1935–1997)

कुमार विकल का जन्म वज़ीराबाद, ज़िला गुजरात (अब पाकिस्तान) में हुआ था। उनका बचपन रावलपिंडी में बीता। प्राइमरी तक की शिक्षा वहीं हुई। 1947 ई. में देश-विभाजन के बाद उनका परिवार लुधियाना आ गया। आर्य कॉलेज, लुधियाना में दो वर्षों तक इंटरमीडिएट के छात्र रहे, पर परीक्षा में नहीं बैठे। 1953 ई. में एक मित्र के साथ देश-भ्रमण के लिए निकले और तीन वर्षों तक यायावरी की। 1956 में लाहौर बुक शॉप लुधियाना-जालंधर में नौकरी की। इसी समय पंजाब में नए लेखकों की 'जुंडली' (मंडली) उभरी जिसका नेतृत्व कुमार विकल ने किया। कई छोटी-छोटी नौकरियों के बाद 1962 से 1995 तक वे पंजाब विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग में कार्य करते रहे। उनका जीवन बहुत संघर्षपूर्ण रहा। जीवन के अंतिम क्षणों तक वे उससे जूझते रहे। राजनीतिक विषयों में उनकी बहुत गहरी रुचि थी। विकल जी की अनेक कविताओं का अनुवाद बँगला, मराठी, गुजराती और पंजाबी में हुआ है। उन्हें 1992 में **पहल** *सम्मान मिला।*

कुमार विकल जनता के संघर्षों और उसकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के कवि कहे जाते हैं। अपनी इसी विशेषता के कारण आधुनिक हिंदी कवियों में उनकी अलग पहचान है। उनकी कविताओं में अपने समय और समाज की धड़कनें दर्ज हैं। समाज की बेहतरी की चिंता और व्यवस्था के प्रति व्यंग्य आदि भाव उनकी कविताओं में बहुत प्रभावी ढंग से व्यक्त हुए हैं। उनमें मानवीय संवेदनाओं के प्रति गहरी आस्था है और मनुष्य की जिजीविषा में अदम्य विश्वास। उनके काव्य में समाज, प्रकृति, मानवीय संबंधों और लोकराग की अभिव्यक्ति है। सहज भाषा और अर्थपूर्ण बिंबों के माध्यम से कुमार विकल ने हिंदी कविता को नया रूप दिया है।

कुमार विकल के तीन कविता संग्रह उनके जीवन काल में प्रकाशित हुए — ***एक छोटी-सी लड़ाई, रंग खतरे में हैं*** *तथा* ***निरूपमा दत्त मैं बहुत उदास हूँ।*** *उनकी मृत्यु के बाद* ***संपूर्ण कविताएँ*** *शीर्षक से उनका संपूर्ण काव्य प्रकाशित हुआ।*

पहचान शीर्षक कविता मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की माँग करती है। प्रायः आतंकवादी हमलों और सांप्रदायिक दंगों में साधारण लोग ही मारे जाते हैं, जिन्हें किसी धर्म या संप्रदाय से जोड़कर देखना सही नहीं है। कवि कहता है कि ऐसी हिंसा में हर बार मनुष्यता ही मरती है।

एक छोटी-सी लड़ाई कविता में कवि समाज के उस दबे-कुचले वर्ग के हित में लड़ाई लड़ने का संकल्प प्रकट करता है, जो आज के लोकतंत्र में शोषण का शिकार है और नौकरशाही के चंगुल में फँसकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए छटपटा रहा है। साथ ही कवि कविता की ऐसी जटिल कलात्मकता का विरोध भी करता है जिसमें कविता के लोक-कल्याणकारी भाव खो जाते हैं।

पहचान

यह जो सड़क पर खून बह रहा है
इसे सूँघकर तो देखो
और पहचानने की कोशिश करो
यह हिंदू का है या मुसलमान का
किसी सिख का या ईसाई का
किसी बहन का या भाई का।

सड़क पर इधर-उधर पड़े
पत्थरों के बीच में दबे
'टिफ़िन कैरियर' से
जो रोटी की गंध आ रही है
वह किस जाति की है?

क्या तुम मुझे यह सब बता सकते हो
इन रक्त सने कपड़ों, फटे जूतों, टूटी साइकिलों
किताबों और खिलौनों की क़ौम क्या है?

क्या तुम मुझे बता सकते हो
स्कूल से कभी न लौटने वाली
बच्ची की प्रतीक्षा में खड़ी
माँ के आँसुओं का धर्म क्या है

और अस्पताल में दाखिल
ज़ख्मियों की चीखों का मर्म क्या है?

हाँ, मैं बता सकता हूँ
यह खून उस आदमी का है
जिसके टिफ़िन में बंद
रोटी की गंध
उस जाति की है
जो घर और दफ़्तर के बीच
साइकिल चलाती है
और जिसके सपनों की उम्र
फ़ाइलों में बीत जाती है

ये रक्त सने कपड़े
उस आदमी के हैं
जिसके हाथ
मिलों में कपड़ा बुनते हैं
कारखानों में जूते बनाते हैं
खेतों में बीज डालते हैं
पुस्तकें लिखते, खिलौने बनाते हैं
और शहर की
अँधेरी सड़कों के लैंप-पोस्ट जलाते हैं

लैंप-पोस्ट तो मैं भी जला सकता हूँ
लेकिन
स्कूल से कभी न लौटने वाली बच्ची की
माँ के आँसुओं का धर्म नहीं बता सकता

जैसे
ज़ख्मियों के घावों पर
मरहम तो लगा सकता हूँ
लेकिन उनकी चीखों का मर्म नहीं बता सकता।

एक छोटी-सी लड़ाई

मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
एक झूठी लड़ाई में मैं इतना थक गया हूँ
कि किसी बड़ी लड़ाई के काबिल नहीं रहा।

मुझे लड़ना नहीं अब
किसी छोटे कद वाले आदमी के इशारे पर —
जो अपना कद लंबा करने के लिए
पूरे देश को युद्ध में झोंक देता है।

मुझे लड़ना नहीं,
किसी प्रतीक के लिए
किसी नाम के लिए
किसी बड़े प्रोग्राम के लिए
मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
छोटे लोगों के लिए
छोटी बातों के लिए।

मुझे लड़ना है एक मामूली क्लर्क के लिए
जो बिना चार्जशीट के मुअत्तिल हो जाता है
जो पेट में अल्सर का दर्द लिए

जेबों में न्याय की अर्ज़ी की प्रतिलिपियाँ भरकर
नौकरशाही के फ़ौलादी दरवाज़े
अपनी कमज़ोर मुट्ठियों से खटखटाता है।
मुझे लड़ना है —
जनतंत्र में उग रहे वनतंत्र के ख़िलाफ
जिसमें एक गैंडानुमा आदमी दनदनाता है।

मुझे लड़ना है
अपनी ही कविताओं के बिंबों के खिलाफ़
जिनके अँधेरे में मुझसे —
ज़िंदगी का उजाला छूट जाता है।

प्रश्न-अभ्यास

पहचान

मौखिक

1. खून को पहचाना क्यों नहीं जा सकता है?
2. प्रतीक्षा में खड़ी माँ के आँसुओं का क्या कारण हो सकता है?
3. टिफ़िन में रखी रोटी, फटे जूते आदि का संबंध समाज के किस वर्ग से है?

लिखित

1. सांप्रदायिक हिंसा के शिकार प्रायः कौन लोग होते हैं?
2. कविता में श्रमिकों, कृषकों के साथ-साथ लेखकों के उल्लेख का औचित्य स्पष्ट कीजिए।
3. 'लैंप-पोस्ट तो मैं भी जला सकता हूँ' — कथन के संदर्भ में समाज में बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
4. सांप्रदायिक हिंसा का शिकार हुई बच्ची की माँ की पीड़ा का धर्म और घायलों की चीख का मर्म बताने में कवि असमर्थता क्यों व्यक्त करता है?

5. निम्नलिखित पंक्तियों का आशय स्पष्ट कीजिए —
   (क) जो रोटी की गंध आ रही है वह किस जाति की है?
   (ख) जिसके सपनों की उम्र फ़ाइलों में बीत जाती है।
6. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   लैंप-पोस्ट तो मैं भी जला सकता हूँ
   लेकिन
   स्कूल से कभी न लौटने वाली बच्ची की
   माँ के आँसुओं का धर्म नहीं बता सकता

योग्यता-विस्तार

'सर्व धर्म समभाव' से संबंधित कुछ अन्य कविताओं का संग्रह कीजिए।

एक छोटी-सी लड़ाई

मौखिक

1. किस लड़ाई को कवि झूठी लड़ाई मानता है?
2. छोटे कद वाले और लंबे कद वाले आदमी से कवि का क्या आशय है?
3. कवि स्वयं को बड़ी लड़ाई लड़ने के योग्य क्यों नहीं मानता?
4. किसी प्रतीक और नाम के लिए लड़ाई न लड़ने की कवि की इच्छा का क्या अभिप्राय है?

लिखित

1. कवि किस बड़ी लड़ाई के संदर्भ में अपनी लड़ाई को छोटा मानता है?
2. कवि समाज के किस वर्ग के हित में संघर्ष करना चाहता है और क्यों?
3. सामान्य व्यक्ति की शोषण-व्यथा का वर्णन कविता में किस प्रकार व्यक्त हुआ है? अपने शब्दों में लिखिए।
4. 'जनतंत्र में उग रहे वनतंत्र' का आशय समझाइए।
5. कवि अपनी कविता के बिंबों के विरुद्ध संघर्ष क्यों करना चाहता है?
6. अपनी दृष्टि में कवि जिसे छोटी लड़ाई कहता है, क्या वह सचमुच छोटी लड़ाई है? यदि नहीं तो क्यों?
7. सप्रसंग व्याख्या कीजिए —
   मुझे लड़ना नहीं अब
   किसी छोटे आदमी के इशारे पर

जो अपना कद लंबा करने के लिए
पूरे देश को युद्ध में झोंक देता है।

योग्यता-विस्तार

निराला की **कुकुरमुत्ता** और **झींगुर डटकर बोला** कविताएँ पढ़िए और प्रस्तुत कविता से उनकी तुलना कीजिए।

शब्दार्थ और टिप्पणी

पहचान

क़ौम	-	जाति, वर्ग
लैंप-पोस्ट जलाना	-	चेतना जागृत करना

एक छोटी-सी लड़ाई

वनतंत्र	-	जंगल-राज, जहाँ सभ्य समाज का विधान लागू न हो
गैंडानुमा आदमी	-	ऐसा व्यक्ति जिस पर सामान्य जन की पीड़ा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, संवेदन-शून्य
ज़िंदगी का उजाला	-	जीवन में आशा का संचार, विकास के लिए उपलब्ध अवसर और साधन

steady responsibility. To reproach these children with "fickleness" or "promiscuity" is to reproach unfairly if not to do actual damage to future relationships should a boy or girl feel he was incapable of steadfastness. "Oh, I've always wanted change, ever since I was a kid at school." Neither should a devoted young couple be told it's a case of "puppy love" and cannot last. That is desecration. Of course it will not last—who wants it to? But while it exists, an attachment no matter how fleeting is genuine, and one of the experiences along the way.

Many a teacher serves a timid, just-awakening child as the first love object in adolescence. In these instances she has a valuable service to perform, to accept sympathetically and impersonally the devotion and then seek to bring about the transfer to contemporary heterosexual companions, boy to girl and girl to boy. Unforgivable would be any attempt to hold a child's affection or reproach her when her inclination passes to another.

The second new concept relates to the interpretation of the much publicized "pawing" or "petting." Such approaches and responses are a universal adolescent manifestation, apparently as necessary a part of his development as similar touch

activities in babies when they begin to explore their world of objects about them. The young teen-ager who has been the last few years a strenuous touch-me-not, becomes suddenly a softie, cuddles up to mother, aunt, grandmother, and goes off stroking and petting everything within range of hand and fingers—beloved dogs or cats, mother's arms, even mother's muff or coat or a smooth bit of velvet. It's not for nothing, we realize when we stop to think. Touch activities are part of love-making and part of marriage. Not to develop them would mean curtailment of essentials to happy and complete later love relationships. To understand and recognize their significance should bring tolerance, and it also should bring discrimination, a feeling for the transient, the fugitive, explorative, ephemeral quality of these first affectionate gestures as opposed to the deeper, more direct love activities of adult years.

Deeply imbedded as the reproductive forces are in human nature, the love impulses are not so deeply imbedded. They are the outcome of generations of civilization and culture. Because they are, two thoughts of great significance must direct us in our guidance of them: (1) the fragility of the love impulses and (2) their capability of metamor-

phosis, of change into varied and diverse forms, both beautiful and unbeautiful.

Talk about "animal passions," "physical desires," disgust and fear teachings, strike in upon delicate psychic emotions and warp their normal growth. "Why does the thought of being touched by a boy make me sick?" many girls ask. Or, "I'd like to be friends with boys, but I'd never want a sweetheart. It's too disgusting to hold hands and kiss." A tragic illustration of just such feeling has come to my attention. The mother of an only son divorced his father because she said "he ran after women" and was a sex degenerate. Determined to save her son from following in his father's footsteps, she constantly warned him of his weakness, his need to fight against these "low appetites," the danger of girls. Even before he began to mature, he felt himself the victim of forces he could not control. He forsook decent companions, decent girls, sought those whom he considered were no better than himself. At fourteen he had already been in jail for sex delinquency. If this boy is unredeemed to good living, it is largely because of his mistaken sex guidance. We adults talk much about maintaining "high ideals." Most young people have high ideals, much higher than our own.

We knock their goddesses from their pedestals. We roll them in the dust and then wonder why children "go wrong." If we want young people to maintain their ideals we must maintain them too. We dare not preach a doctrine of disillusionment and shame.

Opposed to this type of destructive teaching with its resulting psychic injuries and emotional maladjustments, comes sex education with its purposes of conservation. Instead of disparaging normal young energies and instead of erecting barriers, it builds constructively by appealing to every child's innate pride in biological fitness and promoting that fitness, together with satisfying emotional growth, through the promotion of joint companionship between the sexes in recreative and creative work and play. This is not a new concept, but it is one more appreciated than executed.

Inter-Sex Recreation

To fulfill its purposes, sex education must plan and further all types of recreation—swimming, skating, tennis, basketball, bowling, horseback riding, boxing, fencing—the list is endless of diversions for boys and girls which will drain off new surging and insurgent young energies.

But if we are to foster awakening sex emotions and provide for them with satisfying and at the same time legitimate outlets, then the companionship of boys and girls needs to include certain elements not found in all types of recreation. Just sharing a sport together, just thrilling to each other's presence is sufficient at first—showing off at some athletic meet, waving flags and cheering in the bleachers is riotous fun, for a time. But very soon the need is felt for more personal contacts. Skating, yes, but not as before, singly, but skating in twos, arms crossed, swinging along together.

Of all the kinds of partnership recreation, dancing in almost any form—ballroom dancing, folk dancing, esthetic dancing, takes the lead. For young adolescents, folk dancing presents every essential—bodily movement, music, rhythm, personal contact—all built up around the game of pursuit and capture, the central theme of courtship. Russian folk dancing with its spinning and squatting, Spanish folk dancing with its castanets and tambourines are favorites—the swifter, more rollicking, more breath-taking the better. Older young people like the quieter round dances with longer contacts, conversation, and opportunities for mutual display and discovering of personal attributes, grace, beauty, and charm.

With social activities come matters of etiquette, manners, dress, entertaining. Those of us who have been entertained in a home economics cottage, and have sat down in the midst of school corridors on some upper floor, with window boxes, fireplace, books, and magazines complete, to say nothing of tea wagons with sandwiches, cakes, and tea, know that nothing more need be said for this part of the creative program in the school. Dates can be made and accepted (or refused), introductions performed, entertainments launched, wall flowers rescued, with no one feeling ill at ease for very long, for the place will be full of poised and perfected seniors to help smooth the way of young freshmen.

When novices are ready to graduate from cottage parties, or when numbers get unwieldy, there can be larger parties downstairs in the gymnasium. Here too seniors and teachers should be on hand to come to the rescue of the timid. At a school party not long ago, the usual orchestra was playing to the usual half-dozen couples on the floor. At the end of the room near the door a mass of girls hovered expectantly, while an even greater number of boys hung around the outside. It was very quiet, solemn, almost. Yet every one was ready for a good time, every one wanted to dance.

A half dozen senior boys, a half dozen senior girls who knew how to dance could soon have brought gaiety into gloom. They could have brought about introductions between those who knew how to dance, and in the case of those who couldn't, or who were too timid to try, they could have offered themselves as partners, taught them the steps, and increased their assurance. In many schools there are matinée dances, week-end dances, but most of them fail their purpose for lack of a few persons in charge whose task it is to see that every boy and every girl has a chance.

Creative Activities

Within the memory of many of us, very little plan was made for hobbies or leisure time activities, but ever since there have been girls and boys there have been treasured moments taken from serious things and given over to a favorite pastime—soap carving, clay modelling, boat and other model making, drawing, painting. As adolescence made itself felt with its inner stirrings of the sex emotion, reflections of it crept into being—diaries, love letters, verses, poems, sketches and modellings of the human form, collections of photographs and pictures of beautiful girls or handsome men. Bound

by convention, fear of censure or ridicule, many of these expressions were withheld or kept secret, but in those instances in which the inner stirrings were especially urgent and distasteful, due to unhappy experience or teachings in the past, they surged into the open, not in acceptable esthetic form, but in forms suited to the distress of inner feeling, forms called pornographic.

Because most sex teaching in the past has been in conflict with normal young feelings, school wall, sidewalk, and public places for generations have reflected these tumultuous inner thoughts. Yet rarely have we realized that society's attitude was responsible. A sociologist is able to plot delinquency areas in a city through the presence of delinquency-producing factors—cheap vaudeville, pool halls, drinking centers, and the lack of wholesome recreation, playgrounds, and churches. The sex education worker can also plot his areas of pornography, for they are found where the public attitude, talk, and behavior present the sex life as degraded and degrading. "I tell him things like that?" one irate mother exclaimed to a social worker who suggested her child needed a bit of sex instruction. "He gets enough dirty talk from the street, let alone getting it from his mother!"

Constructive sex teaching leads invariably toward the lessening of objectionable activities in school or community. A janitor tells me of one instance in which the basement walls and toilets were constantly defaced. If the culprits were caught they were made to erase it, scolded, punished, sent home. A series of sex education talks were instituted. Overnight the walls went clean. Not a hint, not a suggestion was made by anybody. Spontaneously the indecencies became irksome to the children. They didn't fit in—they were made short work of.

The road for teachers is an open one—the establishment of a right feeling toward awakening sexual forces in these young adolescents, and the provision for suitable expression of this feeling in esthetic as well as in athletic forms.

Some time ago I visited one of the many exhibits of children's work in the graphic arts. There were hundreds of paintings, drawings, and figures in clay, soap, and ceramics of various sorts. Of all the figures, human and animal, not a single sex characteristic was visible, yet every one knows that children from six to sixteen are keenly interested in sex characteristics because they notice them in others and know they are soon to acquire

them themselves. Here was a wonderful opportunity for using the most ideal channel of gaining such knowledge, and it was lost!

Because in the past all expression of sex interest was forbidden, it is somewhat difficult for many teachers to know what is "art" and what is pornography, what is to be accepted and what not. In a physiology class, the text used carried an illustrative plate of the human figure, but it was neither man nor woman. One of the boys in the class in an idle moment drew in his copy of the text the necessary lines to make a complete male figure, like himself.

Here is an episode difficult to interpret. Was this vulgarity on the boy's part? Or was it a desire to be smart and show off? (He hadn't shown the drawing to any one.) Was it the creative urge? Or was it just plain dissatisfaction over something that offended his sense of fitness through its incompleteness? He could have drawn in female characteristics, but he didn't. Our judgment in his case, after a bit of thought, and knowing the innate pride of boys in their sexual powers, should recognize the basis of the act as annoyance, and the correction of it as entirely normal and understandable. Whether or not he showed good judgment is another matter. Very likely he did not

think of the chart in connection with others. For himself it was more satisfactory when completed. If the copy were not his, but belonged to the school or was in circulation, then elements are added which would require a bit of attention-calling. Certainly this situation is not suggestive of any lack in good sex feeling.

Sometimes a teacher is the one whose motives are misunderstood by her students. An art teacher returned to her studio one day after the noon lunch period to find several boys huddled over a book of nudes which they had found on her desk. They closed the book and handed it to her with considerable severity of mien. "What's the matter, boys? You look so disapproving!"

"We think your book isn't so hot."

"What's wrong with it? You don't like the nudes?"

"Some of them are OK, but a lot might be got rid of."

"Which ones? Show me."

Together they ran through the book. In every case, the acceptable nudes were male, the unacceptable female. With girls, no doubt the rejection would have been the other way around.

What was to be done? Keep all nudes under lock and key after this? Or start a life class and put

an end to this nonsense? Neither. This was an opportunity for that cooperation between departments which we said was the truest kind of integration. It was evident that these boys were ready, not for drastic innovations such as a life class would have been, to them, but ready for some knowledge of human biology, the structure, purposes, function of the two sexes and their mutual share in Nature's plan of reproduction, heredity, and human progress. Such an introduction into newer and greater outlooks could not but enhance and make acceptable the beauty of the human female form. With the old shadow of wrong feeling removed, the book of nudes would of itself be made acceptable and then life classes in modified form could be introduced with entire suitability and without shock.

So, little by little, working together on all fronts, we provide for the various phases of adolescent needs during the junior high school years—physical growth, biological maturation, new emotional drives, sex attractions, social attributes, recreative and esthetic desires. Through recognition and provision for them, we work toward better biological fitness and greater emotional health during the early fearsome days of sex awakening.

In a few years it is over. The junior high

schooler has passed on into the senior high school. The under classmen in senior high school have passed into the upper grades. The zigzag of heights has leveled itself. Voices are lowered. Muscles are hardened, blouses have rounded, shyness faded away. Boys and girls meet on steadier ground. Fun and good times are only part of the scene. There is much hard work, much looking ahead, much planning. The various departments have each contributed their share—something of biology, something of home economics, something of physical education, something of the arts—we needed them all, brought together in a synchronized and perfect whole.

CHAPTER IX

FAMILY RELATIONSHIPS

The Senior Year

The last year of high school stands alone. It is more than a refocussing of all that has gone before, more than a forecast of events to come. It is not merely an objective interpretation of daily happenings and situations, as in the earlier grades, but an immediate and personal panorama of the inter-relationships of the sexes, when, released from the protection and confines of home and school, they are to face each other independently, man to woman and woman to man.

For every graduating student, this new future presents a new social environment, just as the entrance into school twelve years before presented a new social environment in first grade, bringing with it new requirements of personal adaptation. Some of these seniors are entering college and university life, others are taking jobs in offices and

industry, still others are entering training school—nursing, aeronautics, automobile mechanics, commercial schools. A few are planning immediate marriage. Some will just stay at home to help Dad at the oil station or Mother in the kitchen. Most of the boys, sooner or later, will probably go into military service. Whatever the occupation, it will bring with it new social situations, the need for a new clarification of purposes, a reweighing of values, a definite preparation in terms of human living and human relationships.

Emotionally, this last year finds every student possessed of as varied equipment as his new environment is varied in requirements. Although most of the boys and girls in a four year high school are approximately one age level, eighteen, at graduation, let us say, some of them are but children in thought and feeling, while others have come completely and fully into the adult estate. To formulate a program which will satisfy the mature and speed up the immature without doing damage to tender young sensibilities is no small task, yet one may rest assured that the immature eighteen-year-olders do not like their immaturity, are eager to shake it off, and because of their years will be able to assimilate and swing along in step

more readily than a younger child of equal emotional status.

As a common meeting ground, we may start off with a consideration of new social requirements as the introductory topic, knowing that every one, from the shyest to the boldest, is looking eagerly ahead to his own place in the world of affairs. Then may follow the usual topics for a pre-marriage age sequence.

1. New social requirements
2. Love and romance
3. The engagement period
4. Marriage and family life
5. Human reproduction

A heavy roster of topics—with manifold implications and possibilities resident in each, to be developed according to the requirements of the class and its individual members. A college preparatory group, none of whom is facing immediate marriage, would require a very different course of study from a group entering industry, for example, with, very likely, a good percentage planning to marry within the next year or two. In either case, and whatever the material offered, students may be encouraged to look upon this study as upon a preview of their own futures—to correlate

its discussions with daily life situations to come, and to learn to become objective in their attitude toward friendship, romance, and marriage while still retaining their idealism and their dreams.

New Social Requirements

As a point of departure in introducing the first unit, one should be guided by the nature of the occupational representation of the class. It is not difficult to orient oneself in the future plans of one's class when one sets about it without resort to inquisitiveness. One becomes informed in regard to the older students through association, and in regard to new students through their records and their advisers or home room teachers, or best of all the guidance center, if there is one. Quite frequently some one will volunteer, when the subject is opened, "Well, I'm going into nursing . . . or business college . . ." or "I'm going to study forestry." So the information is obtained without the less desirable query, before a whole class, "What is each of you expecting to do after graduation next June?" After all, there may be some hesitancy in making public plans not yet assured.

Whatever has been the social record of the individual boy or girl in the senior class, whether he

is among the popular and beloved, or the shy and lost-sight-of, there is always interest and stimulation in a consideration of his new social arenas. The successful looks forward to more successes, and the shy looks forward to making a fresh start. Yet every one knows the high school success has no assurance of success in a larger field, and the shy person's shyness is still with him. For these and other situations this first unit in new social requirements seeks to prepare these young graduates. They are like the little first graders, all flushed and happy with pride at coming to school, only to be faced with many new situations for which they are not ready.

By way of illustrating how much social adaptability we all possess and how much growth has already taken place during the high school years, I often ask the members of senior classes to write me a page of reminiscence—"My most embarrassing social moment in high school," and another, "My most valuable social lesson." The sketches always prove highly entertaining and rich both in social and discussion value. As a dynamic approach to this study, it might be interesting to invite a selected number of the alumnae holding positions in various occupations to return to school for an informal symposium in which they could

speak on some of the social hazards encountered, each in his especial field of work. Or, if this were not feasible, one might call for volunteers from the class who would take on assignments much like cub reporters on a newspaper and sally forth to get first-hand opinions.

I recall two enterprising young seniors who wanted to report for their school work a certain trial which was closed to the public. Donning old raincoats, shapeless slouch hats, and chewing pencil stubs, the boys passed muster as reporters, attended the trial, got their data, and presented their "scoop" to the class. With the same enterprise the students in a human relationships class can, this time without disguise but dressed in their best, interview employers and employees, heads of training schools and students, college deans, college upper classmen, and bring back stories of real value for class discussion.

It goes without saying that many suggestions will be applicable to a great many new situations these young people may encounter. Most boys and girls want to know their way around, are afraid of creating an impression of inexperience and lack of sophistication. I recall a young woman, very pretty, very well dressed, who was holding a desirable position in downtown New York, but she

had given up all social contacts, with men as well as women, because she "did not understand what it was all about" and was afraid she'd give herself away. "I want you to tell me everything," she exclaimed, weeping, "I'm not going to be left in the dark any longer!"

The work in the class on human relationships will prevent this most common experience, and what is more—it will give young people an added prestige because their knowledge is not only adequate but authentic, has about it a tone of professionalism which their companions will be quick to catch and respect.

In addition to a diversity of new situations, the old social perennials will bloom again—matters of going steady, of the best way to end an attachment grown stale, or to revive it, the right of parents to choose a sweetheart, the ethics of cutting in on another's "steady," the desirability of age differences. These considerations are sure to come up in this last year, with new significance for those who have met them in the earlier grades, and with fresh interest for those to whom they are brought forward for the first time.

In all of these considerations, our part shall be not only to make what preparation is possible for specific situations, but better still to lay founda-

tions of understanding, principles of conduct, flexibility of judgment, to such a degree that whatever emergency arises, whatever a new environment may require of social adaptation, these young people may have a basis of judgment, a sense of values, a feeling for the fitness of things, which will serve them as guide and influence their decisions in time of need.

Love and Romance

Spontaneously, without the slightest break in thought, the first unit of work, new social adaptations, glides into the second, the beginnings of romance. The succession of short transitory friendships, so essential a part of the earlier years, which flower and fade without a passing thought, are over. Attachments between the sexes are slower in gathering momentum and fewer in number. Young people are aware of a new quality in their feeling for each other and stop to question, "Is this love?"

The leader who guides any class of students through to an understanding of this greatest and most elusive of human emotions must first of all realize that her job is not to define but to incline. Never shall a counsellor knowingly draw upon

her own personal experiences, or let her own personal biases and prejudices flavor her teaching. If, that is, a leader is to guide young people to an understanding of romance and the love emotion, it must be *their* romance, youth's romance, and their love emotion, not hers, not anybody else's. With such restraints well in mind, we shall consider first, youth in relation to romance.

Young people are idealistic, romantic, starry-eyed. They expect a great deal from life. They want to live in a world which holds ideals and romance for them. Whether their ideals and romance are ever fulfilled or not, they have their place in the present scheme of things.

There was a time when some thorough-going realists attempted to take away fairy stories from children. They claimed we were building on false foundations when we permitted such fantasies as Santa Claus, for example, and the Easter Bunny. But the children refused to yield up their fairy stories, their Santa Claus, and their Easter Bunny, because to them they were not false but real, real in terms of their inner selves. As the years passed, the place of the stories shifted—still beloved, they were fitted into an enlarging and maturing horizon.

In much the same way, idealism is a necessary

but transient part of youthful development. As in childhood, life dare not in youth be too hard, too uninviting, too lusterless. Who of us who have lived to the middle years could have faced what fate and fortune brought if in our youth it had been presented to us in all its stark reality? As in the case of the fairy tales in childhood, life, itself, observation and daily experience, will bring about a gradual shifting of values. There will be less of fantasy, more of the humdrum of reality. Idealism in relation to love, romance, marriage, is not without its biological value. It is the mating call of the wild, the plumage of the woods, which serves to win our mates by covering our human frailties and imperfections—not that we shall allow youth to be ensnared through the building of castles, but that we shall leave young people their ideals while seeking to add that substance of knowledge and wisdom which will make them more possible of fulfillment.

Because the dreams of youth are constantly menaced by the daily happenings about them, and the disillusioned warnings of others, they have been led to ask, "Is there such a thing as true love? How do you know it when it comes? And how do you know it will last?" Three classic queries, these, and who but the gods can answer them?

Yet, courageously, you put thought into words. "Love," you venture, "is one of the realities. So is religion, patriotism, and human rights. They are the intangibles but they are the things men live by and die for. They are the most real of all realities, and love is the realest of them all. For love, more than any other emotion, has a supporting biological basis—built deep into the foundations of the individual. It is not so deep as its counterpart—the mating drive, which is older, for the mating drive is innate in all life from man down to the humblest creeping or flying thing, while the love impulse is a development of centuries of progress, when gradually the psychic forces of affection, fidelity, devotion, self-sacrifice, became linked up with the mating forces, and so created that bond between the sexes which we call love."

Unfortunately, our traditional teachings in the past have done much to destroy in young people what culture has developed. Stressing what was called the "physical" aspects of the love relationship, and ignoring the new tender psychic elements, we have not only brought about distaste and revulsion of feeling in many boys and girls but often have erected a barrier between ourselves and them where we wished most to influence. "Why," cried a young girl in impatience,

"must all grown people think the worst?" And another, "Why are grown-ups so 'sexy'-minded? We aren't!"

Our first purpose with these young people must be to bridge the gap between us, see as they see and feel as they feel in the matter of their relationship to each other. To do so we have only to observe them in their honesty and forthrightness. I am reminded of an incident in one of my senior classes of boys and girls. It was the last meeting of this class. The subject was embryonic development and birth. Every one was intensely interested, including a boy and girl at the back of the room, sitting close with hands clasped. As I talked my glance fell on them. They caught it, returned it in a forthright fashion, a bit whimsically. Then we all went on with the absorbing story of procreation. Should I have shaken my head, indicated that a class room is no place for lovemaking? Not for worlds. Who knows what dreams those baby charts had fostered and what that hand clasp pledged?

One apologizes for an attempt at explicitness in the discussion of the tenuous, but with clamorous seventeen- and eighteen-year-olders one may not turn hand from the plow, knowing that an analysis after all is but another attempt not to define

but to incline, not to dictate but to indicate the way.

Once rapport has been established between ourselves and our students on this matter of true love, we may pass on to the second of the trio—*how do you recognize it, know that it isn't as they say, "infatuation"?* Infatuation! That relic of other days when all young fancies were infatuations which did not lead directly to an engagement, marriage, and a hearthstone to prove their solidity! So we toss this unsympathetic and disturbing word aside, explaining that it is an old-fashioned way of speaking in regard to crushes, meaning an inter-sex attraction which lasts but a short time. Boys and girls in the early teens who are experiencing sex attraction for the first time quite naturally confuse it with falling in love. Instead it is a make-believe, when the psychic and biologic components of the impulse are not entirely matured. In the late teens and early twenties, crushes give way to more permanent attachments because of the greater maturity, the linking up of the love forces. If that maturity for any reason is delayed through adverse sex teaching or lack of social opportunity, the crushes may continue over into these later years, or for that matter into adult life. Many men and women subject to the influence of parental

cautions in childhood are unable to achieve any degree of sexual maturity, remain capable only of transitory attachments throughout their lives.

Teachers may be of special help to young people during this period of transition, never to be interpreted as a period of instability or disloyalty of affection. Very often they themselves are the objects of an early attachment, are the stepping stones which lead from the old familiar loves of childhood to the new unfamiliar loves of adolescence. It is a wise teacher who can understandingly receive this adoration, know it for what it is, and allow it to come to a happy, satisfied end. It is the still wiser teacher who can use this transient friendship to build up lasting standards of good living as found in the arts, literature, music, religion, which will endure and bless her name long after the finale to the association has been reached.

How to identify true love—that is a more difficult question. For its perennial age-old answer we again turn to our mothers and grandmothers who, looking fondly at fathers and grandfathers, say "You'll know when it comes." Some, striving for an analysis, may say that love is but the close linkage of the mating drive with feelings of personal devotion, sacrifice, humility, joy, mastery—a mingling of a multitude of human emotions. Others

feel that "true love" contains or requires a third element, an especial quality, nebulous but all-powerful, which draws and holds two persons, man and woman, like a magnet, regardless of sex attraction. Surely such an assembly of human feelings—sensory, intellectual, spiritual, if one must find names for them—must be love, for most certainly they are nothing else.

To the third of the classic trio, *"Does love last?"* we sum up our answer in a sentence, "Yes, if you will make it last." For we know that nothing, not a bowl of flowers, not a book, not an old shoe, will last unless it is taken care of, least of all the love emotion which the wedding ceremony commends to honoring and cherishing. From this fruitful beginning, rich discussion is bound to arise concerning those factors which are contributive to the endurance of marital love—thoughtfulness, confidence, tolerance, playfulness, compliance at times; and those which are destructive to it—nagging, fault-finding, greed, selfishness, boredom, lack of cooperation and consideration—attributes which a leader must not leave to grace the blackboard merely as a list of attributes, but carry over into daily life situations through illustrative stories which both class and counsellor may supply, while obeying the inflexible rule that no names are used

and all identifying incidents are withheld. In some such fashion we translate the psychological into the logical, and dreams into reality. True love is not only the idyllic experience of the blending of two natures so that the boundaries of each are released to wider and ever-widening horizons, but true love puts new-found powers to work with all their capabilities for the welfare of both, one not less than the other. The concept of "love" becomes not so much an emotion, or sensation, as it is an inspiration and expansion of two personalities toward ever-widening goals.

Because the senior class in human relationships has a different purpose from that of the earlier grades, because it is looking forward to meeting new situations as well as making the most of the present, discussion may lead to more serious fields than the lighter ones of the past. Happily they are not the most frequent, yet they touch the life, indirectly, of every one and should be understood. We refer to modifications of the usual in sex feeling and practice.

Great variation in the sex impulse exists normally between individuals and between men and women. Women are more content with affection divorced from mating, but with men are equally eager for home and children, broadly speaking.

Outstanding modifications of sex feeling in normally endowed persons are shown in many aberrant forms—in frigidity, lack of sexual response, lack also of heterosexual attraction, with substitute love objects in those of their own sex, in children as we mentioned earlier. Also, health factors, fears, disgust teachings, punishment for sex play, premature sex experiences, a number of reasons have played their part in the building up of these divergencies. Manifestations of frigidity frequently found among the older students reveal themselves in such comments as, "I like boys but I can't bear to have them touch me," or "Would it be all right to marry on a friendship basis?" and are subject to re-education through such measures as a human relationships class may offer, or through individual counselling. Many a student will find himself and gain his release with no outward word. Others will say, "I feel so different about these things now."

As protection for young people, especially boys, against adult homosexuals, one need do little in a general discussion except to indicate that there are such, who can be recognized through their methods of approach. Especially to be avoided are personal attentions from an older man to a younger—acceptance of invitations to go alone to

his apartment, to travel, or drive, or go to a movie with him, accept gifts, or books, have him direct one's reading, or talk with him on sexual subjects. References for the counsellor's reading on this subject are included in the bibliography. Caution is offered that teachers proceed carefully, restrict discussion to a minor position, avoid sensationalism and any reference to suspected homosexuals. In the past I have omitted the whole matter until it was introduced by a class member, but today when large masses of boys are gathering in army camps, this subject, like that of the venereal diseases, becomes one of protection.

The Engagement Period

In any consideration of the engagement period, two trends in the interests of the students may be expected. The first touches upon such practical issues as the length of the engagement, the amount of money needed for marriage, the approval of the parents, differences in religion, social status or education as barriers to marriage, the basis of selection of mates, and other topics. The second touches upon the day-by-day conduct of the engagement period—shall engaged couples "date" with others, what shall they do by way of recrea-

tion, how far shall love-making go, what shall be the relationship with prospective in-laws? And in addition at the present time, the desirability of war marriages, and similar vital matters of mutual decision.

For most of the topics in the first group, opinion has been fairly well standardized through research, experience, common consent and common sense. Yet such unanimity, useful and comforting to a leader who would appreciate having her own judgments verified, must not be allowed to weaken independent judgment on the part of the students. Most enlightening and challenging to thought are Dr. Burgess' studies referred to in the bibliography, which reveal that internal rather than external factors play the most significant part in marriage adjustment.

In the second group, the matter of the conduct of the engagement, the regulation of love-making is easily the primary concern, with consideration of elopement and quick marriages also of vital moment. Every one recognizes the engagement period as a highly artificial, cultural one, in which two persons who have found and chosen each other must for a time forego the natural fulfillment of their dreams and their desires, like runners who have labored to the top of the hill and

are withheld from running down. Yet an engagement period does not allow of standing still. It is possible to slip backward, or to go forward. To change the figure, like two heavenly bodies either they move gradually toward each other, lighting and warming each other, or they recede and draw away into distance and chill. Such constant movement with so much at stake is rarely perceived by young lovers who look upon the interval between betrothal and marriage merely as an enforced period of waiting. To keep the months of an engagement alive and vibrating with continuous new discoveries in the natures of each other is one of the achievements of an engagement period not to be missed.

Not only do the discoveries in each other—thoughts, ideas, plans, talents, diversions, hobbies—keep the currents moving within the engagements, but they relieve the stress and strain of sex tension which so often bring quarrels, tears, and unhappy bickerings, and tend to lessen the urgencies and desires for unlimited love-making. Love-making we all know is an essential and coveted privilege when a man and woman belong to each other. But it is an ornament, a decoration, rather than the thing itself—the dessert rather than the solid meal—we point out to our young people

when the subject comes flying to the front of the stage as it always docs when the engagement period is under discussion. How much ornamentation, how much dessert may one have, they ask, and does a man respect a girl who gives or asks "too much", and does "too much" affect the later relationship?

In the case of older students, many of whom are engaged to be married, or have made their choice, I find a simple setting forth of the three psychobiological stages of the love impulse most absorbingly interesting to them as well as helpful in the guidance of their own conduct: the primary, or stage of light contacts, such as one associates with the young boys and girls in their explorative "passes" at each other; the secondary stage, or prolonged and more intense caressing, typical of older and mature lovers, both married and not married, in which there is a biological preparation for the third, or tertiary stage, expressed in coitus or the act of sexual union. These three stages will require a fairly detailed, carefully worded, simple setting forth as presented by writers of authoritative position. Yet the success of the discussion will depend upon the skill of the leader, who must measure her material to fit her students in both amount and texture.

Briefly summarizing, for the benefit of the counsellor: between the first and the second stage there is a fairly long corridor of safety and a ready escape. Every touch of hand or arm on shoulder or head in lap does not lead to desire for sexual union, as our parents used to indicate when they warned, "Never let a boy touch you," nor every kiss start a baby, as many of us believed in childhood. There is instead for most persons a fairly generous margin. But between the second and the third, the corridor is but a mere vestibule, and too readily crossed if personal desires are not forcibly set aside in the interest of personal ethics. Need one say more? Safety for those who are engaged to each other, as well as for those who are not, lies in keeping one's caresses well within the first stage, if distress of mind and body is not to result, for in all of us preparation, a physical and mental set toward anything, which is not carried through to its completion leaves one disturbed, thwarted, and unhappy. When such a breaking off is habitually made necessary, Nature takes on the pattern, and even in marriage free release may be, at first, difficult to carry out.

Quickly the inevitable query will arise: If distress arises and the habit of breaking off may be built up to interfere with the natural pattern,

then why not fulfill Nature's cycle as it was intended to be fulfilled? This question is not out of order, because it arises in every one's thoughts and sooner or later will demand an answer. It is not asked for effect or to be shocking. It is asked sincerely, and sincerely it must be answered.

The experience in itself, you point out, does not today sustain itself. Sexual union has come to be a symbol, much more than an attainment—an end in itself. It is the precious stone lying within the matrix, but it *requires* the matrix, the supporting substance, harder, more robust than itself, to surround it and protect it, that it may endure. Family life, a home, children, mutually shared occupations and interests—all supply this protection. Then, too, there are centuries of ethical, moral, and religious teachings which demand recognition within us, whether we will or no. What man or woman can compensate for a restless conscience? —for memories come back to haunt and taunt. One of the most frequent confessions in cases of marriage disharmony is the sentence, "We didn't wait." It is one of the spots which will not "out."

One of the advantages of a mixed class of boys and girls is the opportunity to bring all kinds of personal inter-sex experiences into the open. Afterward when an actual situation is faced—"Shall we

or shall we not?"—objective judgment may be difficult, but the discussion of this quiet impersonal hour together, with forty or fifty intelligent young minds giving their best thought, not to mention the concluding word of the counsellor, will produce a point of view not to be lightly set aside.

Some time ago the counsellor of a human relationships course received a letter which read, in substance, "You will not remember me, but I was one of the girls in your marriage study class. I have a husband now, and two children. A short time ago something happened which threatened our home. I couldn't trust my own thoughts. I couldn't trust my husband. Then I remembered our class, and ran up to the attic, found my old notebook and began to read. There it was, the answer, the answer we all worked out together, when our thoughts were clear, our brains steady."

Two serious and frequent decisions—elopements and war marriages (or hasty marriage for any reason)—call for seasoned thinking. We have known them to be as justified as any marriage duly entered into, but the flavor which surrounds both is fortuitous and sometimes questionable. In both the secret and the war marriage, some one is sacrificed. In the first it is, usually, the families of the young people, who feel hurt and cheated of paren-

tal privileges, while the new relationship which binds three families together starts out with an added handicap. In the war marriage, whatever the comfort and strengthening of morale which a marriage might bring to a young man going off to army service, he has taken on obligations which he is not able to fulfill, and leaves his bride neither maid, wife, nor widow, a difficult situation for any girl. It would be interesting to make a study of the war marriages of World Conflict I and determine how many are still happily intact.

As alternatives to the setting aside of traditional and respected custom, what has society, what has a counsellor to offer these alert, exacting, aggressive young people, many of whom in the stress of modern times, its uncertainties and disillusionments, are tempted to snatch at the passing moment and claim the momentary gain?

The answer will tax the wisest, and may still fail in wisdom. Aside from the restraining influence of (1) long inbred social codes and an understanding of (2) the psychological factors governing conduct of which we have just spoken, there is also (3) the innate pride in sex functioning fostered through the years by good sex teaching which now at young maturity cannot allow itself to be turned aside to any but legitimate uses. There are also (4)

the old release devices of sublimation in the arts and recreations, a bit more mature but similar in kind to those suggested for the younger adolescent, and last of all there is (5) a certain sustaining honor code in both men and women which is not willing to ask for sacrifice of any sort, preferring to wait and in the end gain all.

We have touched upon a few of the most difficult considerations which every human relationship counsellor will be called upon to discuss with her senior students either singly or en masse. Again we stress the value of an impersonal approach, a detachment of manner which must be supported by a detachment in thought, if we are to guide these young people, not to our way of thinking but to a free way of thinking which we have made possible by the presentation of all that we know to be best, most authoritative, most reliable, most reflective of human experience touching engagement and marriage situations, day by day.

Marriage and Family Life

Sometimes by way of introduction to the discussion of marriage and family life, I read aloud part of the marriage covenant from the Episcopal Book of Common Prayer. "Dearly beloved, we are gath-

ered together here in the sight of God," through the remainder of the paragraph concluding with the pledge, "and hereto I plight thee my troth." Many of the students have never read the marriage ceremony, some have never heard it, and the beauty of it impresses every one.

For a short time we discuss the marriage vow, the meaning of the words, "love, honor, and cherish," the implications which they hold in their lovely abstractions. From them we slip over into the unwritten, the unspoken pledges which lie back of them—the sexual relationship, the maintenance of a home, the bearing of children—not that the religious vow on the one hand and the customs of mankind on the other entirely cover the subject of modern marriage, but they serve to crystallize the romance of marriage anticipation into substances of tangible and practical form and to build in a background of thinking against which to consider marriage of today. If there are representatives of religions using other marriage vows, they may be asked to contribute selections from them. In some such fashion we may develop a broad and sincere approach to this matter of marriage covenants, as well as religious tolerance and true fellowship in a country of many faiths.

The three unspoken pledges lying within all mar-

riage covenants of mankind we shall consider here briefly with the suggestion that they be developed in keeping with the time allotted, the requirements of the students, the equipment of the counsellor, and the resources of the community.

1. The Sexual Relationship

One of the benefits of an entire school sex education program is demonstrated at this point when the first of the obligations comes into consideration. From the very first grade, the boys and girls have witnessed family life among their pets—mating, the arrival of the baby animals, the care of them by father and mother. In the later grades, family life and mating have been developed with gradually increasing understanding and detail, so that the senior students come to the consideration of the personal sexual relationship with intelligence, emotional readiness. Should newcomers join the class who are unprepared, they must be made ready individually through conferences with the counsellors and carefully selected readings, with no one but the counsellors aware of the lack—for young people, as we know, are sensitive to their deficiencies in any and all aspects of the sexual life. Should the work in the senior class be

presented to a group of students without earlier study or preparation in the grades—and this is at the moment perhaps the most frequent situation —then a series of talks on reproduction similar to those in the junior high school should be offered at this juncture.

From seniors one may expect a wide range of questions bearing upon the marital relationship which will call for judgment and discretion as well as knowledge on the part of the leader, but never for personal feeling or expression of bias.

Would it be fair to marry on a friendship basis alone?

Is the act of mating just for the purpose of starting a baby?

How often would it occur otherwise?

If one has "done wrong" ought one to confess before marriage?

What is the "double standard"?

Could a husband tell if a girl had "done wrong"?

What ought a fellow to do if his girl deceived him?

Do you believe in physical examination before marriage?

How do you contract disease?

The last question should be answered simply and without elaboration, if it arises. Otherwise it

is left to the instructor in physical education and hygiene. Further questions touching upon the marital relationship may not be referred to others but must find their answers either in the class room where all may participate or, in certain instances where personal situations are involved, in later conference sessions.

Because so much of marital unhappiness in the past has been linked to the sexual relationship, obligation rests upon the counsellor to grant this subject its due place not only in the discussion but in the minds of her young students, that they may neither magnify nor minimize its great function and power in the stabilizing and sanctifying of marriage.

2. Maintenance of a Home

The second of the unspoken vows—the maintenance of a home, points so directly to the domestic arts department of the school that we scarcely need touch upon it here. The selection of a home, its economic support, the contribution of its members, the advantages and disadvantages of a wife and mother with "outside" interests, the conservation of family health, both physical and mental, the rearing of children—all of these matters so vi-

tal to happy marriage and family well-being can be ably and fully brought to the human relationships class through the services of the household arts department.

As a starting point, one may use questions which the students have asked from time to time apropos of home-making.

Should one have a "nest egg" in the bank before marriage or could one depend upon the pay check?

How much does a couple need to live on?

Should you borrow from your family?

Would a wife's working affect her relationship with her husband?

How long could she work?

Is she entitled to her own wages?

There are also other economic aspects—the relative advantages of renting or owning one's home, of city or country and suburban living, of building and loan or life insurance savings, of installment buying or credit or cash, of independent dealers or chain stores. To these subjects the school can also contribute or draw for expert discussion upon the businessmen of the community who are always happy to talk with young people.

The purpose of the discussion from the economic standpoint is neither to curtail nor promote marriages among these young people who

are eager for the establishment of themselves in a home of their own, but to lay before them all of the major factors which must be considered in such a way as to enlist their intelligent thought and judgment. For the most part I have found young people willing and ready to wait and work toward the realization of their desires, except in family or national emergencies when they felt their whole future was threatened.

Yet no consideration of this modern household can afford to overlook the spirit which will preside over it. Just because it is mechanistic and assembled, so much the more it needs to look to its own heart. The open hearthstone as a fact is no more. Where in this country can one find the warm glowing family kitchen with chairs drawn up to the fire and slippers waiting? Yet as a symbol, the hearthstone with its hospitality, its warmth, its abundance must remain. Young people must be fortified against a sterile and unproductive life, must be inspired to fill their homes with some of the warm human qualities which characterized the home-working, home-abiding, home-loving men and women of the past.

Other questions will touch upon the personal relationship in marriage. Shall a husband and wife have secrets from each other? Should they con-

tinue to correspond with old steadies? What can one do about jealousy? Is a honeymoon practical? Are vacations together advisable? Need husband and wife follow the same recreational pursuits?

Considerable wisdom is required in guiding the discussions which these questions initiate. Most provocative of good thinking is the introduction of married life sketches which illustrate either the fulfillment or lack of fulfillment of this second obligation—the maintenance of a home. The material used can be gathered from one's own professional experiences or from good fiction. "Framing" or inventing stories to suit one's purposes is unprofessional, unconvincing, and likely to be accepted for the tinsel that it is. It is wiser that the stories shall not be gathered from the local community or touch the life of the students, although thinking and insight tend to suggest incidents and situations to them within their experience, and are sometimes offered spontaneously with considerable tact and caution—"I know a person who . . ."

I recall a recent incident at the close of a class in which we had been discussing tolerance in cases of divorce. One of the girls lingered to bring a message from one of the boys. "He wanted you to know that he feels better now about his father. He had been seeing everything from his mother's

point of view and condemning his father unheard. Now he sees the whole in balance."

Of course these discussions will be illuminating and helpful not only in terms of the future but in terms of contemporary family life. If there is a moment when a child may feel that he has become a man (or woman), it is when he can see his father and mother not as parents in relation to him but objectively as man and woman in relation to each other.

Whether the material offered to these young people is in the form of "true stories" or fictional plots, it should be presented with conscientious objectivity—a setting forth of the contributing factors in 1-2-3 narrative fashion, then a handing over to them of the evidence for their consideration and judgment. The keen perceptions, fairness, tolerance, insight shown by these eighteen-year-olders would surprise a judge presiding over a court of domestic relations. Always after their decisions, the story's real ending is divulged.

Last of all, a counsellor may be of great service when closing the discussions on marriage and family life if she will introduce to her students the resources of the community, after first having assured herself of their professional status and capabilities. Few young people know of the services

of these institutions—marriage counselling centers, maternal health clinics, child guidance institutes, libraries, churches, psychiatrists—but should be made familiar with them and their addresses and the procedure necessary to call upon them in time of need.

3. The Bearing of Children

The third of the unwritten laws inherent in marriage is the bearing of children, a subject which in any group of modern young people spontaneously calls for consideration of five major topics—voluntary parenthood (including contraception), the correction of sterility, prenatal care and anesthetics, hospital insurance, and child rearing. These are technical subjects and require so broad a field of preparation as well as constant reorientation in current changes and progress, judgment would suggest that this part of the program be supplemented with contributions from several specialists in the field of obstetrics, maternal health (birth control), child care and development. As in marriage counselling discussions, the speakers might arrange to hold their talks in their respective headquarters. Imagine the value of a visit to a maternity hospital, with its background of incubators,

baby respirators, delivery tables, oxygen tents, baths, to say nothing of the dozens of little patients sleeping and waking behind the glass partitions of the nursery! And the child welfare centers, with their milk stations, their daytime crèches, their nursery schools, their libraries and child guidance clinics! Nothing we have done for young people in the past—no talk of disease, of morals, of disgrace—nothing we have done to promote good living can compare in social value with visits to our public centers where the life of the country is being conserved through the welfare of the children and the education of their parents. A separate day can be allowed for each of these excursions, with plenty of time for questions and observations during the visit at the institution and plenty afterward for open discussion and organization of ideas.

Yet the scientific and professional resources of our modern way of life shall not obscure its spiritual values. Because voluntary parenthood is possible today, the greater rests the obligation of mates to use this freedom for the best interests of each other and the home they are building. The obligation of parenthood lies implicitly within the marriage vow. To set it aside must be a mutual decision, subject to renewal and change, for as the years go on, child hunger awakens and redirects

our thinking. At bottom, the requirements of men and women are essentially the same. They need each other, they need a home, and they need a family of children to fill it and carry on what they have begun.

Quite as essential as the knowledge of the latest medical findings in promotion of the physical welfare of children is knowledge of the best that is known of their emotional requirements. Many young mothers who would not think of muffling up their children in old-fashioned woolens muffle them up in maternal possessiveness, and others who take strict account of a baby's vitamin intake ignore symptoms of deficiency in the emotional life—do not know the value of vitamins called self-management, personal achievement, contemporary companionship, social acceptability, family harmony, affectional relationships. Boys as well as girls should have direct experience in the care and guidance of young children. A few weeks in a nursery school under the supervision of trained leaders offers one of the best opportunities for this experience. Later, back in the family relationships class, the incidents of the work can be evaluated in open discussion.

When the study in human relationships comes to an end, it closes not only its own year of work but

the work of the whole school in its program of sex education. In its preview of the future, it serves also as a review of the past, using for its structure material gathered along the way—the way up through twelve consecutive years from childhood to maturity. Family life was the dominant theme when the little first-graders petted and played with their ducks and rabbits. It was the dominant theme when the older boys built their hutches, coops and cages. It was the dominant theme in the last year of study on human relationships—a long, gradual but absorbing pageant of living beings working out their destiny, their welfare, and their happiness together according to an age-old plan.

It is difficult to measure the value of such a study. There are no examinations one may give, no records one may collect, no grade cards one may mark which could possibly indicate the growth which has taken place during the twelve years in a child's life through this study, for the growth of the spiritual forces is a quiet, silent, noiseless process. Yet the results are tangible, permanent, real, and not to be denied. They may be seen in any of these young people, in the directness of their glance, the serenity of their thoughts, the forthrightness of their speech, the trustworthiness of their conduct. Sex education is more than knowl-

edge. It is a way of life, a way of thinking and feeling, of growing and moving toward the accomplishment of one's sexual fulfillment in love, marriage, and parenthood.

Chapter X

TECHNIQUE IN SEX TEACHING

The maxim, "It isn't what you do but the way you do it," is never truer than in sex guidance and teaching. The use of a chart, the lending of a book, a phrase, a classroom door left open, an anecdote related can make the difference between survival or discontinuance of one's work.

It is not so much a matter of experience (though it is that, too, of course), for many workers have successfully felt their way step by step. It is rather a matter of feeling, of sensitiveness to the subject and the other person's trend of thinking and attitude of mind. A sex education speaker once said of another, "How does he *do* it! If I said what he says, I'd never be given a second chance. Is it pull or personality?"

It is neither, although personality counts. It is a sense of the fitness of things—so simple a thing, for example, as not asking a student to hang up before his classmates a medical chart which they

all suspect of having something embarrassing on it, or asking a teacher either, for that matter, who is likely to hang it upside down, to her later chagrin.

Tricky situations are legion and one must be ready for them. I recall a meeting of elementary school mothers at which I was asked to speak. By some chance the occasion had been turned into "Grandmother's Day," and I found myself facing a white-haired audience totally unprepared for my subject of sex education for the young child. Instantly the speech had to be scrapped and another worked out that grandmothers and great-grandmothers could take. No one can foresee all the situations which may arise in sex education work, but one must foresee the need for a ready adaptability, a sensitiveness to situations which must guide one like a sixth sense.

Although the unexpected is always happening, there are certain situations which are frequent, if not routine, and these one may be prepared to meet with a fair degree of certainty and reliability. Some of these procedures we have mentioned in the previous chapter discussions, others we have left until this final gathering together of hints and helps.

Shall we begin with the tools of our craft—

words? Every one knows the handicap of old terms for changed concepts, old bottles for new wine, and the urgency to find others which are suitable and which carry with them some indication of their changed significance.

There used to be insane asylums, filled with inmates who had "gone crazy." Today, thanks to mental hygiene and modern psychiatry, there are instead psychopathic hospitals ministering to patients who are mentally ill. How revealing and how comforting is the difference lying within these two sentences!

So with sex education work one abandons the terms, phrases, words which belong to past thinking and adopts those which most clearly and effectively give expression to present-day concepts.

There is the king-word itself, "Sex," weighted with all the bias and calumny of centuries. It is likely to clamp ball and chain upon any movement from the start, a curt disagreeable little word in its own right, like all words ending in "x"—ax, tax, lax. Yet how difficult it is to replace! Two things we can do about this bothersome word. We can use it sparingly, unlike the speaker who tossed off thirty-eight "sexes" in twenty minutes to an audience of young people. And instead of using it alone we can combine it with other nouns as in

"sex teaching," "sex impulses," "sex guidance," "sex education."

Another word-lack exists in connection with the person who carries on the work of sex education, because his duties are so diverse. In the classroom he is a teacher, in the guidance center he is a counsellor, in relation to the whole program he is a coordinator, for he plans and unifies the work, calls upon the resources of the school, secures speakers, and keeps parents and community interested and cooperative. I suggest that each school choose its own term, the one best fitted to the local situation.

In the upper grades where the program has crystallized into a definite entity, a name for the study would give significance and prestige. "Human Relationships," "Family Living," "Preparation for Marriage" are all appropriate for a year's or a semester's course of study.

Titles are important. Occasionally their choice has been a definite hindrance to the work they were intended to promote. Too late students have awakened to a lost opportunity. One very fine course masqueraded under the prosaic title, "Sanitation and Health." Who could suspect romance under that guise? Another course functioned under the title "Social Hygiene," and a third was called "Problems of the Family." Sanitation and Health

sounds like typhoid fever and inoculations, Social Hygiene today more than ever suggests venereal disease control, Family Problems could mean anything from getting the grass mowed to feeding the baby. Why problem, anyway? Certainly family life should be represented by a symbol more inspiring than the word "problem"!

Aside from names and title, there are any number of commonly used terms not suitable for use in sex education work and by a sex education leader. They are evasive when they should be forthright and direct, or they are condemnatory and superior when they should be unemotional and uncensorious. There is about-to-become-a-mother or going-to-have-a-baby—admissible, colloquially, but much better replaced by the simple word *pregnant*. There is coming-into-the-world, used in place of *birth* or *being born*, and having-her-baby instead of *delivery*. The use of the words mauling and pawing for love-making, passion for sex response or stimulation, infatuation for temporary attraction, marks one as out of step with the true concepts of present-day sex teaching, whereas such phrases as dirty-minded, gutter-talk, or filthy used in place of indecent or vulgar are almost as offensive as the words which they stigmatize.

Not only words but phrases must be set aside—

brute passions, animal instincts, uncontrollable desires—which are not in harmony with accepted concepts governing sex education today. We may not beat one drum and follow another flag.

Words and phrases shall be not only interpretive, but they must be professional. One need not speak technically always, but one should speak professionally. It would be unnecessary, for example, to use "mammary glands" except in explanation of the word mammal or mamma, but it would be silly for a teacher of biology to use the word bust, like a dressmaker, when she meant breasts, to refer to "bags and tits" of an animal instead of udders and teats. During the first stages of pregnancy one speaks of the embryo, later of the baby, seldom of the fetus or the unborn child. Male and female are always dignified in reference to traits and to animals, but otherwise seldom acceptable in reference to human beings, especially girls, who do not like to be called females. Menstruation is not a girl's sick period, visitor, grandmother, or curse. One's buttocks are not his rear, sit-down, seat, bottom, or fanny.

Young people and children are observant and appreciative of dignified and fitting speech, quickly absorb it and eventually adopt it for their own. Nobody wants them to speak like bald-headed

sages before their time. Whimsy always enlivens speech. But crude and rude speech cannot be eliminated unless there is an available pattern at hand. Vulgarity of sex expression is of diverse origin, but some of it we know can be laid to a faulty and impoverished example.

Last of all in this matter of technical diction, one speaks esthetically, which is not to be mistaken for sentimentally. One may refer to a woman's figure, a man's physique. One would not speak of her shape or his body, not because body is not a fine old Anglo-Saxon word but because it has so long been decapitated as something apart from mind and spirit. I like to accustom my students to thinking of mind and body together, a united entity, and to speak of them together—me, myself, he, himself.

Because one is an exponent of a progressive kind of work, one has the more reason for good judgment and conservatism in carrying it out. Often a situation or need for a phrase may arise, legitimate in itself, but questionable because of the audience—the presence of conservative persons, elderly people, or men and women together. One doesn't go blundering through just to prove oneself true to one's colors, or to make sure that one practises what one preaches. One tempers

one's speech to the shorn lamb. It is the novice, the beginner who goes about "showing the world" and shocking people.

In sex education, a major offense is crudeness, coarseness, in violation of the feelings of others still sensitive because of the teachings of their youth. In sex education as in medicine one may say anything and everything if one will keep one's tools in order, select them carefully, use them skilfully, with due consideration for (1) prevailing concepts, (2) professional standards, (3) rhetorical usage, and (4) esthetic feeling.

Humor

Sex teaching is still so uncertain an art, and holds so many possibilities of danger, one hesitates to recommend the addition to it of a flavor of humor. Yet that is what I should like to do. A touch of whimsy here and there along the way does much to keep the whole tenor of the work on an even keel, makes it human. And if now and then something really funny happens or is said and everybody laughs, well—laugh too, why not? It's good for the nerves and good for fellowship.

Two things one does not do. One never tells an off-color story. A funny story, yes. There are heaps

of funny stories which serve as excellent illustrative material. Strangely enough, risqué stories are so rare in connection with sex education work it is almost as though they did not exist. The other thing one must do with great care, if at all, is to introduce humor into the first sessions with a new group of students, that is, sex humor. No matter how legitimate, it would be out of place. It may come later, but not when one is establishing one's position with a group of young people on this subject. Whatever their outward air—light, sophisticated, scornful, eager, silly—inwardly they are serious, deeply interested, sometimes even religious in their attitude. One must meet sincerity and seriousness with sincerity and seriousness. One may not be outdone at one's own game. The lighter touch can enter gradually when confidence and understanding have been established.

It is almost as hazardous to recommend a tinge of good old-fashioned sentiment as it is to recommend a dash of humor. Yet sentiment and, yes, even sentimentality make the stuff man lives by. They must, if he is not to become as withered and brittle as a dried oak leaf. Yet we are afraid of sentiment, of feeling, of emotion, in the classroom. We read the most soul-stirring and moving of dramas without a thrill or a shout or a gasp or a

tear. No wonder we fail to reach into the recesses, the warm tingling recesses of young hearts and minds. No wonder they look upon us as something near subhuman—"men and women and teachers."

Sex education is a humanizing experience. It opens up the sluice gates and lets the revivifying waters through. It makes men of men and women of women, and helps one lose one's classroom pallor.

The Setting

The setting for the program is everywhere—outside, inside, the wide world. But for the more formal aspects it is in the regular classroom, with the members seated together against their familiar and habitual background. Any massing in great numbers, thrilling as it is to a speaker, creates an artificial situation, produces tension and a loss of rapport between him and his audience.

Auditoriums, lunch and music rooms, libraries, lounges, are too distracting. Stage curtains and balconies are convenient places for teasing comrades to hide, dishes clatter, cooking odors whet the appetite, demand for books causes interruptions, and deep chairs and couches invite lounging and do away with a certain dignity which must be kept intact from the beginning to the end. Ideally

I should choose the out-of-doors, the wide open spaces far from the madding hordes of the curious. But one may not always choose. So we specify: a smallish but not crowded room provided with a blackboard for the writing down of new words and the sketching of diagrams, with inaccessible windows and a solid door without glass for the exclusion of inquisitive passers-by. Usually I do not allow friends to sit together in the same seat, though I do allow them to sit in the same neighborhood and make occasional remarks to each other. Very often when charts, books, pictures, or exhibits of various sorts are used as illustrative material I have encouraged a breaking up into groups and "gathering round," which promotes a feeling of informality and good fellowship.

Visitors

It is inevitable that there shall be visitors. In a summer session which I taught, at almost no period was I alone with my class, at no time were we able to be just ourselves. Opinions in regard to sex teaching are too diverse, motives for attendance still too mixed for an easy introduction of a new and unknown element into a class of this nature. In an effort to meet the situation I have tried seat-

ing visitors everywhere. I have placed them in front and placed them in the rear. I have let them be "talky" and have kept them silent. Yet they always ruffled the face of the waters. Still we may not undervalue their service to us, for often they are the life-line out to the community.

In the grades where sex teaching is incidental and diffused throughout all phases of a day's activities, visitors are much less disturbing. The children are not self-conscious and have learned to take visitors for granted, to like them in fact. In high school the situation is different. There is much self-consciousness which must be borne in mind, though to a greater degree in the junior than in the senior school. With visitors in the room the children close down, refuse to participate, and in some cases actually suffer. The solution seems to be a guest day at the opening of the course when the subject matter is largely introductory in character, something in the nature of a preview, which will be satisfying to parents and not disturbing to their sons and daughters.

Introductory Remarks

Introductions are strategic affairs. They set the tone of the whole course—a wrong note and the

whole thing goes wrong. Some time ago a genial gentleman came up to speak to me after a talk I had given to his college students. "I was led to recall," he said, "my own initiation into this subject some twenty years ago, at freshman lectures. When we had all assembled, the instructor walked over to the door, locked it, pocketed the key, and then glowering at us said, 'Now I've got you and I defy any of you to laugh, or titter!' " But of course from that moment, he didn't have them—they were irrevocably lost to him and anything he had to say.

How uninspired are the usual admonitory remarks made by a principal to his student body: "Boys and girls, our speaker who is a very busy person with many demands on his time, has kindly consented to come and speak to us this morning. I hope you will give him your courteous attention."

"Oh, please—" your heart calls out silently in protest. "Don't make them think I am only busy and kind. As for attention giving—or getting—that is my part." One thing a speaker must remember: if his audience is restless, whether it is a student audience or an adult group—the difficulty is not theirs, but his own. Either he is not being heard, or he is not giving them what they can use. A rest-

less audience can be either a bored audience or a dissenting audience. In one instance he steps up his tempo, in the other he slows it down, makes clear his position.

The admonitory type of introduction to a student audience is usually accompanied by another more serious handicap in the form of a corps of teachers detailed to the auditorium to keep order—chosen, moreover, not so much for their interest in the subject as because they happen to have a free period. A new speaker in a school acquiesces in the arrangement, sure that a few minutes after the talk is under way the guardians of the peace will slip away one by one, or stay to listen, for as one of them said, long ago, "I came to scoff but I remained to pray."

The best introduction that can be given a speaker (and one which I have gratefully received many times from my host principals in the schools I have visited) is the simple straightforward statement of his vocation—doctor, lawyer, merchant; his affiliations—college, army, industry; and his name. An experienced speaker desires neither elaborate build-up nor entreaties in his behalf. They both "fidget" him and increase his difficulties. All he desires is his audience and permission to go ahead.

When one isn't a guest speaker, but taking over the work in one's own school, there are not likely to be introductions, or one makes one's own. Usually I just write my name on the blackboard and say, "This is by way of getting acquainted. I couldn't bear to have you refer to me as 'that woman'—and please do speak to me when we meet on the street." Or I tell the story of a very shy professor who when he faced a new group of young women students wrote on the board, "I am Tom Bradley and not the least bit afraid of you."

Approach to the Subject

Introductions over, the first hurdle is passed and the second is at hand in the form of approach to the subject. Just where does one tap the melon? If the subject matter is based on current age interests, the point of entrance is influenced by current environmental events—an item in the morning paper, a neighborhood happening. Let us say you are planning your series on reproduction for a junior high school group. On the way to school you notice a baby iron lung in a drug store window. Quickly you are inside the store asking questions. "Is that infant respirator in the window to be used only for sick babies with pulmonary difficul-

ties or for new-born babies at birth when respiratory activity begins?" "For both," you are told, and in a few minutes you are in possession of all you need for the most fascinating story to initiate the reproductive talks with your seventh-grade boys or girls. "No more old-time slapping of babies on their backs and swinging them by their heels to fill their little laggard lungs," you tell them.

From there one may go on and tell all that the children want to know about the mechanics of birth before starting at the beginning of embryonic life, to fill in the preceding nine months. Always one bears in mind the preparation which the children have or have not had. In an all-school program such as we have been discussing, basic understanding of major reproductive processes has been acquired, and admits of this unchronological approach.

One of the arts in sex teaching is to begin at any point of current interest and, guided not by logic but by the children's collective minds, create in the end with them and for them a unified and satisfactory whole. Those who have been used to a chronological and evolutionary approach to biology will have difficulty at first in following this informal method, but one must admit it is a natural way of learning and one upon which most of

our permanent mental equipment has been built up.

If one of the arts of sex teaching is a spontaneous current-interest-motivated approach to a subject, another is the use of reticence, reticence with clarity, that is clarity with incompleteness. In an old Barnes reader of my childhood, there was a mystery story with the legend, "A word to the wise is sufficient." While we may not consider children "wise" in regard to sexual knowledge (even though we often say they are), they have a considerable accumulation of miscellaneous information which needs but a few well-chosen bits here and there to make an intelligible whole. Every teacher knows that she may stop short of the fullest explanation of a given process, knowing when the subject comes up again, behold, the student has brought it to a logical and satisfactory conclusion. Perhaps it was achieved by a putting of two and two together, perhaps by a talk at home with father and mother, perhaps even by a little session between the class members. Whatever the manner of the doing, he has experienced the joy of mental discovery, has laid hold of the storehouse of his mind and brought forth an orderly structure of knowledge, all his own.

But if one is not an artist, and has not yet mas-

tered the art of clarity with reticence, then one must watch sharply, for the unforgivable sin is to beat about the bush, to back down and give rise once more to the discouraging cry, "It's the same old thing. Nobody will come straight out and tell you what you want to know. They're all afraid!"

Classroom Students

A word must be said of the students themselves and of the part they play in classroom work. If there has been no previous sex education in the school, the first sessions may be marked by considerable tension—giggling, whispering, glancing at each other. Usually one need take no notice, but quietly begin to talk, to tell the introductory story dramatically, arrestingly—a story worth the telling. In a moment it will begin to take hold. Some one will "shush" somebody else. Giggling, restlessness will quiet down and will stay quieted down, so long as one gives these young people what they are eager to receive.

Occasionally in a class of children who have had little preparation for the open discussion of sex subjects, a boy or girl may become faint. It is not the subject matter itself which brings about the shock, but one of two other situations—either

a too crude or inexpert handling of it, or the sudden impact of it upon a mind made super-sensitive by earlier adverse conditioning. Usually the student leaves the room but is back again in a few minutes good as new and eager to proceed. Although we never require fainters to continue, we are always happy that they do, for we feel sure that they will soon become desensitized and started on their way to a more balanced emotional attitude. If they do not return, we try tactfully to determine the cause of the inner disturbance. One girl, I found, didn't want babies and didn't want to hear about them. Too many children had ruined her mother's life, she said.

The Question Period

Most of all, children enjoy the question and answer period. Boys, I find, are better questioners than girls. They ask more questions, ask them more directly, and ask them verbally more frequently than girls. Questions asked by the class form a reliable indication of their interest, their present thinking, and also of their past equipment or store of knowledge, as detected by a vocabulary not acquired in the class instruction.

Strangely enough, so trifling a thing as supply-

ing the students with paper slips for questions, instead of requiring them to tear them from their notebooks, influences the number of questions asked. As the slips are passed, usually at the end of the hour, I suggest that they be returned unsigned, but with the grade and number of the class —Physiology 7A—adding that the wording of a question is not important because I usually restate it for simplicity's sake. The restating gives encouragement to a child who feels he does not know how to phrase the question properly, and lessens the possibility of identification which must always be an active responsibility on the part of the teacher.

Often a question is asked which is too personal in character to answer before a class. In such an instance, I lay it aside and suggest that those whose questions were not answered might stop at the desk on the way out or come to see me later. "Every question," one assures a class, "is legitimate if it is asked sincerely," so every question must have its answer, if not at the time of asking, then later.

There is an etiquette about these question slips. Even though they are unsigned, they must be guarded as a trust, and not left at school, thrown

into the waste basket, or shared with another—not with parents or teachers or interested friends. Neither does one seek to identify the questioner. Occasionally, very rarely—so rarely it comes as a shock—a knowingly vulgar question or remark is handed in. This, too, goes without scrutiny, or attempt at identification. Wouldn't one rather not know the writer? One of the strongest reasons I can give for my insistence upon the beneficial effect of sex teaching on the emotional life of boys and girls is the fact that among the thousands of papers placed upon my desk from children representing all types and degrees of neglect and worse than neglect of their sex needs, I can count on one hand those questions of which I have been ashamed. Many of the questions have been crude, the wording has been ill-chosen, vulgar, sometimes even sordid, but rarely ever consciously insulting. Yet among these same boys and girls are those who have been defacing basement walls, toilets, and public property without compunction. Can you explain it? Only through the healing found in a new sex knowledge which opens up new feelings and sets them to work in satisfying ways.

ACTIVITIES

Sex teaching, in common with other teaching, is unprofitable when limited to verbal expression. It requires translation into daily life situations—projects, excursions, researches, programs.

One of the frequent queries of adults touches upon the tendency of children to transfer thought into action. "If I do tell him, how do I know he won't go and try it out in some way?" they ask. He's not likely to, we assure them, if his instruction has been supplemented with opportunities to put his new-found knowledge into concrete expression in some legitimate and creative way, as suggested in Chapter V. And certainly no teacher will lack illustrative biological material once the children know her needs. Bugs, animal embryos, eggs, frogs, mice, snails, rabbits will rain down from everywhere, and when they do the obligation rests upon her to accept them and use them with accuracy and fearlessness—no running away, even if one of the rabbits produces babies on the spot. One must know one's stuff when steering children through their first laboratory experiences.

Social laboratories are quite as valuable as biological ones when senior boys and girls of the human relationships class act in the capacity of

big brothers and sisters, as suggested in Chapter VIII. As for the arts, domestic and creative, they offer the perfect channel for the liberation of hearts when boys and girls make sandwiches side by side or play opposite each other in a current comedy. It is in these first-hand encounters when barriers are down and not only Boy Meets Girl but Student Meets Teacher as a human being that our work begins to sound in our ears and we know whether we are in tune with boys and girls as they are.

Books and Readings

We must not close these suggestions on ways to go about sex and family life education without a word in regard to the use and distribution of reading materials. Books are a major medium of thought and, like words, are the tools of our craft. Because they are tools they must be carefully chosen, and the one who wields them must be a master craftsman who understands their use.

We all know there is a scarcity of just the sort of books which we should like in this field of reading, although many satisfying new ones are making their way to the library shelves. Among the older books were those whose tone—sentimental or moralizing or didactic or horrifying—did not recom-

mend itself to young people, and these books are better withdrawn from circulation than kept in use, for they teach a decadent and confusing philosophy.

To be acceptable to a young person, a book should be of the same age level as his other reading, straightforward in style without technical encumbrances, never babyish, condescending, or obviously censored for juvenile use.

From early adolescence, reading is not the measured and circumscribed affair that it is in early childhood. As soon as boys and girls begin to read the newspapers and magazines such as "Life," "Time," "Science News Letter," and other periodicals, they are beyond the limits of "age levels." Interest in the subject matter carries them forward even when the reading is difficult. Sex education books, especially, should hold promise of value beyond the moment in a contribution which is not exhausted with a first reading, but is something to return to and find rewarding as the days go on. In tone, books should be friendly, warm, and entirely human.

If there is a tendency among writers of sex education books for children, it is that they have been too simple, too lacking in literary merit and human interest. My objection to the use of pamphlets,

so frequent in sex education work, is that they are sterile of everything else but the lesson to be learned, are skeletons without beauty of form and contour. Simplicity and readability are essential, but stark unadorned facts without esthetic feeling are undesirable. It is perhaps appropriate to mention that those books and pamphlets which have observed these essentials are those which have been the most beloved and enduring.

Schools differ in their distribution of books. In the upper grades of high school, sex and family life education books can well be housed within the department in which they are most used. I recall an attractive reading nook in one home economics department with bookcases, table, chairs, where the students of that department could gather and read at leisure and in comfort. One physical education department fitted up a little retreat just off the director's office. If there is a guidance center or personnel headquarters in the school, it might give shelter to this special collection.

Yet a special collection is not the ideal arrangement. These books should take their places with other books on the open shelves where they would be accessible to all students. In many schools this achievement is already an accomplished fact, with no deterring criticism. But in other schools, espe-

cially in those of small and conservative communities, such freedom would not be understood. The reserve book shelf is possibly the answer under those conditions. It is a rule among libraries to withdraw from circulation books used in connection with current courses of study and restrict their use to the library rooms. Applied to sex education this measure will not only serve the students of the current courses in the school, but forestall criticism and render the books readily available to every one.

As for lock and key, some books seem to be more tempting than others, and sex education reading belongs in that class. But in a school, especially a school which has built up a feeling of naturalness and acceptability toward matters of sexual significance, there should be no need of especially guarding books of this nature.

Sometimes one might be inclined to think, from the attitude of one or another of these boys and girls that "they don't care to learn anything—they just read for the thrill." Yet the manner may be deceptive. Frequently there is a real need underneath which a friendly word or the recommendation of a book may help to meet. Often it takes real courage for a young person even to be seen reading a book of this type. They are the ones we wish most to reach.

Among the younger children, reading may be more diverse and general in theme, including nature and animal stories as well as the specifically sex education books. All of these the teacher may read aloud chapter by chapter and use as the starting point of discussions, illustrative stories, and informal talks.

More and more we are coming to recognize the constructive value for sex and family life education in non-sexual literature, in such books as Marjorie Kinnan Rawlings' "The Yearling," in Kipling's "Jungle Stories," in love stories such as LaFarge's "Laughing Boy," in pictures of family life such as Bess Streeter Aldrich's "The Song of Years" or Maristan Chapman's "Homeplace," and O'Hara's "My Friend Flicka." Sex education has been too long divorced from literature and drama in both form and substance. We need to call upon more of the arts to make it live and to link it more closely with the world of man as well as the world of reality.

Chapter XI

THE COUNSELLING CENTER

One of the greatest services a sex education program can offer is a counselling center—a place where parents, students, teachers may go to work out their collective undertakings or talk over their individual perplexities. Rightly conducted, such a center acts as a functioning organ, a pulsing heart which supplies the whole school body with sustaining power and strength, using for its nourishment all the various resources of the school—academic, social, vocational, recreative.

A counselling center should be a service agency for one and all—for the school's most buoyant teacher as well as the school's most downcast delinquent, and for all the rank and file between. But in general, its functions today, perhaps because of the limitations of time and personnel, have tended toward two main channels of work—vocational guidance and personal adjustment of students in difficulty. Reference material on the first of these functions fills the library shelves to

capacity, while on the second much remains to be written.

One of the first uses of a counselling center would be its service to students who feel that they would like to talk over with some one their own special emotional and social needs, or to discuss some topic too intimate to enter upon in open class discussion. Broader still would be its service to the fostering of social and recreational activities which interlock closely with the sex education program. It would even permit the informal dropping in to talk, which young people so enjoy, and the seeking of advice in such day-by-day affairs as how to tell a best friend tactfully her chief drawback, or get oneself out of a hopeless situation, or how to write a letter to a boy in service.

For this personal guidance of young people, whether they come individually or in groups, whether they come voluntarily or are sent by school authorities, the counselling center should be a sanctuary, a place of freedom and release, not a place of judgment and discipline. This is a difficult accomplishment. By tradition teachers are inclined to be conformists and students non-conformists. Counsellors must be neither. They must be neutral, as neutral as a sworn jury, ready to do their duty by both state and individual.

To maintain such neutrality, a counseller does well to be divorced from the academic side of school life, freed of report cards, responsibility about grades, school attendance and progress, home rooms and general school management. She must know of all these things, but she should not be their agent or their representative. How can she be and remain impartial, detached, a refuge to whom a student may go in times of stress with the feeling that he is to have a four-square deal, that she is to be *his* counsellor and that his welfare is to be her first concern—a true democracy with the individual before the state?

Years ago I discovered the value of a counsellor's detachment from officialdom when I was working with juvenile court charges and unadjusted children from the schools. They were silent, closed in, on the defensive, until I explained that I was an outsider, a free lance, just a person who was a friend of boys and girls. At once the barrier dropped, for my loyalties were not held by the powers that be. The children felt assured of fair play.

The Setting

The setting for sex counselling is even more important than the setting for sex teaching. It should

be a cheerful but secluded room, not subject to interruptions, and off the main center of school activities and between-class traffic. Often to avoid publicity as well as to escape a dreary office, I have met young people in my own living room where, removed from the scene of conflict and among more esthetic surroundings, tension could give way and confidence be more readily established. In a home setting, a child can become your guest, not a culprit, and you his hostess, not his judge.

Setting a young client at his ease is a talent, a talent which rests in one's own abilities to catch a child's mood and temperament. Some boys and girls like to be entertained, shown an interesting paper weight or new electrical gadget, anything to give them a respite from the point at issue. Others are too jittery, are in torture, want to get right down to business and have it over with. There is no rule of thumb about it. One must be adaptable to each individual situation.

As for the gaining of confidence and the establishing of rapport between a counsellor and her client, that is accomplished by what she shows herself to be through her words, her acts, through the build-up which has come about through her work with other students. Young people are keen readers of human nature. They know where they

can put their trust. No amount of conscious technique or strategy or force or maneuvering will establish confidence between oneself and a boy or girl unless one is confidence-worthy.

First of all you must believe in a person before he believes in you. A counsellor need not be a "softie" or gullible or "easy," but she must believe in young people, in their motives, their ideals, their desires for right living, no matter what the outward evidence against them may be. She must remember her own childhood with all its confusions, regrets, bewilderments, resentments, must be able to interpret silences, sullennesses, revolt, anger, defiance, must remain at all times under all situations an incorruptible optimist. Yet so often those in charge of guidance work are not believers in children, have no real knowledge of child nature. They sit behind their desks like judges at the bar to pronounce sentence—yet not so fairly, for they make quick adverse judgments, establish decisions before the boys and girls have a chance to state their case, suspect them of trickery and use trickery with them. It is a contest of wits.

A counsellor tells me, appreciatively, for she is an extremely intelligent woman, of how one of her young students recently turned on her and made her sit through two sessions while she heard

what youth thought of counsellors. "You people don't know anything. You aren't in a position to do your job. What do you know about us—not a thing! Most of the time we are two jumps ahead of you. This time I got caught. Now that I have, and you know, what are you going to do about it?" In this instance, something constructive was done, because the counsellor was a woman of heart and big enough to accept this indictment against her profession without malice.

Sometimes earlier betrayal of confidence, suspicion, and lack of fair play make children distrustful without cause of every one, even their warmest supporters. They are used to having their word doubted. They are used to hearing, "Now don't try to get out of it," or "Don't make it worse by lying." Yet defensive untruth is often their only weapon against us, and commonly we force them to use it when we place their backs to the wall and demand a confession. "Did you do this thing?" Who in self-defense and fright wouldn't say "No!" A child will tell the truth when we make it possible for him to—when, that is, we trust him. We need not always believe in his innocence, but we must believe in *him.*

We lose our young clients, too, when we criticize or condemn their parents, when we speak of

their mothers as "nagging," "weak," or "a drag on any family of children." They may have suffered at the hands of their parents, but they will be loyal to them, at least through childhood, and you as their counsellor must let them be. For this is to be remembered: whenever you destroy a parent, injure the child-parent relationship, you have taken away something you cannot replace. There are situations in which it may seem wise to separate children from their parents, but even so the affectional relationship must be preserved. It is a necessary part of the horizon of childhood and youth. With this thought in mind, with the intent to hold together, to keep intact, to build rather than to destroy, we may move toward the conduct of the interview.

The Interview

Guidance interviews under the best of conditions are difficult, the opening interview most difficult of all. And of course the first move belongs to the counsellor.

"Hello, Tom, how are you?" Perhaps you hold out a hand as a gesture of friendliness (if his is damp and cold it tells you something of the inner turmoil beneath). "I don't believe I've seen you

since I taught you in the fourth grade. Oh yes I have—you won a prize or something in a contest in junior high school . . ." (You say something commendable, at all events, to help build up the ego.) "And now, let me see, you're a sophomore, and things are in a bit of a tangle, not going very smoothly. I'm sure they will all come out right, Tom," (this for reassurance, while you watch the cheek muscles). "Suppose I give you my understanding of the situation, and if I'm misinformed, you tell me." (This gives promise of fair play and bids for cooperation.)

In some such friendly fashion the counsellor opens the interview and gets under way, though if as sometimes happens a child breaks through and takes over, by all means he should be allowed to continue freely, uninterruptedly as long as he has something to say. Or if he breaks in after you have started on an exposition and exclaims, "I don't know what you mean," or "I don't know what you're talking about," then you must slow down, not with the thought, "He knows, all right —he's just trying to stall," but hopefully, with the thought, "Careful here, perhaps there's a mistake after all."

I have seldom known children to swing off at first and take the initiative, though I have had

adult clients who talked uninterruptedly for three or four hours in review of some critical family relationship. Children are cautious. They bide their time, and usually keep silent. In taking the initiative, whether with children under discipline and investigation, or with those who have come spontaneously for assistance in clearing up some social or biological question, a counsellor must refrain from pryings, probings, and soundings. It is ours to give and give generously before we receive, or expect to receive from them. You do not say, "How did you happen to get into this mess?" or "Didn't you know it was wrong?" or "Who else was with you and had a part in it?" This sort of thing leads backward, not forward to a solution. Probings and questionings are also to be avoided in the case of the uninformed child whom you are coaching in private so that she may catch up with her more knowledgeable classmates. You do not say, "How much has your mother explained to you?" "What have you learned from the other girls? You must have talked about these things—girls do." Don't treat her as though she were a baby. Start setting her straight, but feel your way as you go along lest you go too fast and overload.

Sex delinquents or those who are involved in serious misdemeanors can take very little at first

from any one. They cannot bear even to have the vital subject mentioned, much less hear it imaged in so many words. One's approach must be softened by simply a tacit understanding of the situation at hand, or one must leave the investigation of contributory factors for the time being and focus one's energies on meeting the present critical need. "What would you personally like to do, Babs? Go right on and finish out your school year? Or change into another school? Or go out to visit Aunt Ellen for a month or two? I think we could arrange any of these things." This is what I said to a ten-year-old in a heartbreaking difficulty. We said not a word about the occurrence which made the decision a necessity. She chose to return to her school. Later the conditions which led to the difficulty were taken care of.

When one gives a decision of this sort to a child, one must offer it in all honesty and use one's influence to create a situation which will make the choice a success. In this case I bespoke the friendship of established girls who were the pace-setters to lesser girls, and in this fashion made unlikely any public ostracism or withdrawal.

As in the case of a sick man whose general health must be built up before he can sustain a surgical operation, a child may need to be healed of tem-

porary wounds before permanent rehabilitation can take place. Sometimes the simple first aids are all that is necessary. Even in those instances in which lack of good sound sex instruction and biological knowledge seems to have been the contributing cause of the misconduct, sex teaching should, I feel, be deferred until the storm is over and the child is back in the routine of life. Biological teaching should not be administered as an immediate therapeutic measure. In a time of emotional stress it is likely to fail in its purpose and may establish unfavorable associations not compatible with desirable sexual development.

A miscellaneous lot of other details weigh in the art of successful counselling, such things as records, testimony of other persons, letters, notes, personal belongings—things which under the law carry such terrifying words as "incriminating evidence," "exhibits," etc.

More and more as guidance and personnel work progresses, we have allowed ourselves in schools and social agencies to pile up extensive records and case histories. Many times the history for the files becomes of more consequence than the boy or girl whose troubles it records. Often I have seen a record judged technically excellent while the child's situation remained unchanged.

To every client I have ever served, the awareness of a written account of his personal affairs has been a real handicap. He feels himself, as he says, a "guinea pig." Or he feels himself numbered, finger-printed, and registered as a rogue in a gallery. If we must have records, and they do have value when they are well kept, let us keep them out of sight and let no vestige of them come to mar the relationship with the students either in an interview or at any other time. Past is past to youth, and he suffers under the thought of his mistakes, particularly when they rise like a monument before him in the modern file.

Then too, accumulative files are like medicine cabinets. They indicate the ills of another day but have little value in treating the ills of the present—for if the medication had been what it should have been, there would have been no continued illness. With files at our command, we run back through the years catching up this and that item to influence our thinking. "See," we say, "he's always been a problem." Perhaps if we closed our files and approached a boy or girl with an unbiased mind, we might find he was neither a problem nor a recidivist. We might find him just a child who has not been able to get into his stride. Recently a client of mine, a boy of eighteen, has been threat-

ened with the state reform school on the strength of his third offense against girls, but neither the first nor the second charge was proved, and according to the record his guilt was doubtful. Still the record itself, not the evidence in the record, condemned him and made him liable to imprisonment as a repeater. Valuable as records are, they are awesome instruments for which each individual recorder must make himself personally responsible. If records are to assist us and assist our clients, they must be correct and not pass errors along. Each successive worker should record her findings independently. Later there may a pooling of results. Physicians and hospitals work on this basis of independent case histories and run no risk of building up a wrong diagnosis.

Even the taking of records is disturbing. Any well-trained counsellor can school herself to recall the essentials of an interview if she will set herself to it. Occasionally a date or name may need to be quietly jotted down on a telephone pad, but there should be no continued record-taking, no observed writing.

Another caution brings us to a great mass of tangibles known as evidence, the objects which we place before a student with a conclusive gesture, perhaps, "There! explain that if you can." It may

be an objectionable note, a sketch, a cheap magazine, a copy of an off-color verse, a postcard, or even more serious evidence of misdirected sex interest.

What hundreds of these, generation after generation, have found their way into teachers' desk drawers! "Dick, what have you got there?" "Nothing, just a book." "It doesn't look like 'just' a book to me. Bring it here!" "You wouldn't care for it, Miss Lathrop." "Bring it here!"

So we confiscate this property. It isn't ours. Why do we want it? We know it isn't decent, yet we read it. That is what Dick did. We save it, keep it in our desk. That is what Dick did. We show it to our friends and laugh over it. That, too, is just what Dick did.

If our sex curiosity gets the better of us to this extent then we forfeit any right to censure others. Often our curiosity sends us further—we not only read the trophies but if we do not understand them we ask the children what they mean. What does this word and this word mean? It doesn't matter what they mean, does it? What matters is that here is a boy or girl who might be interested in some decent reading if selected with reference to his especial needs, perhaps technical, perhaps romantic and fictional, perhaps drama, perhaps poetry.

If a student is circulating undesirable reading matter throughout the school or neighborhood, send for him to come and see you, at a time when you can talk unobserved together. "It's just trash, Dick. I can give you ever so many books and magazines that you will enjoy more. Get rid of this right away, will you? We can't have it about, you understand."

Then trust him to destroy it. He will, if you handle the matter properly, which means that you do not report to his parents, or to the principal, or shame him before his classmates, or make him surrender the book before them, or read out its silly title in public, or write excerpts on the blackboard as one teacher required of a boy in her room. Any of these methods is worse than useless. The motives which lead to the reading or writing or enjoying of indecencies are not removed. They are merely pushed further down, to come up again. Sublimation, substitution—the opening up of new channels of enjoyment and satisfaction, without recourse to shame techniques—these are our resources. In the lighter, usual school-day episodes they will prove effective. In more serious and continued offenses, other measures may be required at the hands of a school psychiatrist.

No matter what the nature of the misdemeanor, one does not stigmatize a child with any term of sexual disparagement. He is not "degenerate" or "perverted" or "abnormally sexed." Such accusations are frequent, but rarely justified. To the layman almost all manifestations of sex interest in a child are termed abnormal, whereas most of them are the to-be-expected manifestations of developmental activity. This does not mean that all spontaneous activities are to stand without modification or always without censure. It does mean that sexual needs must be met without shame and false assertions, injurious to a child's personality. In the chapter on "Creation and Recreation" (Chapter VIII) some constructive measures for the adjustment of normal interests were suggested.

"I don't care for these nudes, Harry," you say when some dozen sketches are brought to your desk in a round-up of the school. "Nudes are all right, but these look pretty dreadful to me. Go up to Miss Dillon's department or down to the library and get the latest number of Photographic Art. Do you know that magazine? It is full of good photography of all sorts of subjects—athletes in action, pole-vaulters and runners, animals, aircraft, birds, beautiful nudes. There's not a thing to object to

in nudes, if they are decent. And if you are interested in drawing, why don't you join one of the art classes upstairs, or down at the Museum?"

The question may arise: why be so casual? Why not send this young man packing with an order to report to the art department and do his stuff, a kind of write-the-word-a-hundred-times assignment such as we used to receive in school? Because you don't have to. Interest in nudes is a normal, to-be-expected adolescent interest. We have been accustomed to meeting the interest with censure and disapproval, which has thrown the boys back on their own resources and down to the familiar corner drug store pulp magazine counter, or upon their own ingenuity and creative talent. Once we permit this interest to come out into the open and give it sanction, it will only too happily rise to a higher and more acceptable level. Surely no one who knows boys could doubt their choice between a cheap reproduction of a poor drawing and the beauty of photographic art, if the subject matter he craved were available in both.

Perhaps the occasion of our concern is an epidemic of ribald songs or stories which have been the rounds. The miscreants have been collected in your office. You look them over and are surprised to find some of the nicest boys in school as well as

a number of others that "you might expect." How to interpret this unsavory conduct? What to do about it all?

Because such occurrences are almost universal in early adolescence, they seem to be the expected outcroppings of new feelings and desires which, lacking the defined and preferred channels which are learned later, strike out at random, much as some of the little pre-schoolers find themselves biting and pinching when they feel a sudden uprush of affection toward an adored companion. All little children don't bite and pinch, and all adolescents don't chant ribald verse or draw pictures of nude girls, but the tendency prevails, and it is the part of good education to supply the need which is responsible for the tendency, rather than to make these young people feel they are lacking in decency when they are only lacking in maturity, poise, and command of the situation.

Whatever the form the interest takes, whether in drawings or songs or stories, we know the need involves the awakening sex natures, and leads eventually to girls, or in the case of girls, to boys. They need each other, and knowledge of each other in their various relationships, but not always first-hand, present, that is to the senses. They are not always ready for too direct a contact. But they

are ready, almost all of them, for the remoter, the less exacting contacts presented through pictures, reading, art in its various forms, drama, radio, film, and these must be supplied in acceptable guise. H. L. Mencken tells of his own adolescence, "This reading madness went on until I reached adolescence and began to distinguish between one necktie and another, and to notice curiously divergent shapes and aromas in girls. Then gradually . . ."

Girls, girls' voices, girls' figures, girls' hair, girls' aroma—girls in reality and girls in song and girls on paper—it is to be expected.

A counselling service is successful only when it leaves the student better off than he was before it was undertaken. If he has been laid bare before himself as a bungling, unreliable, incompetent creature, if he feels that it's no use, that he's always in a mess of some sort, if his faith in his home and his parents has been dislodged, so that even that support is withdrawn, if the interviews and investigations have sifted through the school so that "everybody knows I'm a bum and have to report here every morning"—if these are by-products, then counselling is not an aid but merely a gesture and a hindrance. Guidance is a successful venture only when it dispels both inner and outer conflict,

when outer conformity brings peace and inward peace brings outer conformity, when the resources within the personality feel themselves released to personal achievements and all phases of development go forward in unison.

In the horizon of the future, counselling may be envisioned as broadening out into wider fields of service. To vocational and personal guidance may be added social guidance—perhaps a social register of boys and girls who wish to date, entertain and be entertained, together with their credentials and social assets. More than anything else the social mingling of young people needs organization, backing, and the good offices of home and school. And when that is done, with provision for the lonelies and the strays, many of those who might be filling the personal adjustment records will be numbered in the social register.

The school counselling center is one of the achievements of our educational system. It promises to be the great white way of opportunity for salvaging youth, but as in all guidance work it is an instrument in the hand, to be used only when the hand is skilful and the brain clear.

Chapter XII

PERSONAL AND ACADEMIC QUALIFICATIONS

Some one has said that every one who undertakes to set forth the requirements for a sex education worker kills all possibility of gaining recruits by an impossible list of attributes. But another person comforts and encourages by reminding us that nobody is an expert at his job when he first begins, though as the old saying has it, "he must have the makings."

Sex guidance and teaching is more than just another occupation which one may undertake, another school subject which one might change into. It is a consecration as the ministry or medicine is a consecration, and like these professions demands not only hard study and preparation but working days of long and indeterminate hours, self-sacrifice, and personal service. One's reward comes in what one is able to accomplish both for individuals and toward the progress of a field of education just

beginning to come into its own. Sex education's acceptance in general education is assured, but the time and extent of its acceptance is dependent not only upon its teachings but upon the personality of its leaders.

Because sex education is still hanging in the balance, not yet admitted to the established school family the country over, every gesture one uses, every phrase one speaks, the clothes one wears, the company one keeps—all the details of personality and conduct are of great moment, as great moment as the soundness of one's training or the skill of one's technique.

In the preceding chapters we have considered some of the skills of technique. Now, before we bring our discussion to a close, may we consider a few of the personal and academic requirements.

Personal Attributes

Categories are misleading, for frequently the sum of all desirables does not make a desirable whole—a subtle something is lacking which would yield the right result. But if one could check off a list of traits one would say the ideal sex education worker would be married, the parent of two or three children, youngish, medium in height

and weight, good looking, a pleasing dresser, imaginative, human in feeling (including sexually mature and adjusted), possessed of a sense of humor, tolerant, understanding, sane in outlook, and a student of the dramatic school of education. A man and woman supplementing each other would make the ideal team, for to be fully and adequately equipped to carry on sex education and family living education one must know both masculine and feminine nature. But if one could have only one leader for an all school, kindergarten-to-college program, one would choose a woman, for obvious reasons.

First and foremost comes the ever-present and recurring question in regard to the marriage status. Is this a subject which can be adequately treated by one who has not lived through the personal experience of marriage and the founding of a family? Can the unmarried person approach her subject with assurance and hold the confidence of her students?

To have lived a normally married life, to have loved, mated, had a family, and reared them year after year in one's home—this is undoubtedly to have one of the best qualifications for leadership in this field. There is nothing equal to the laboratory of one's own fireside for trustworthy re-

searches in the field of human lives. Yet many who are married, and even mothers and fathers, are not therefore of an understanding mind. One of the hardest women I know, who seeps sex antagonism at every seam of her too-tight dresses, is a married woman, and, alas, in constant association with impressionable girls of the early teens. Many women and men as well are married in fact but not in spirit. The gentle humanizing virtues which come from the blended life of a husband and wife do not always follow. The union remains sterile, and they remain sterile in feeling and sympathy toward each other and often toward the sexual life. Such natures, married or unmarried, have no service to offer in sex education, and they must be honest enough to recognize their own emotional unfitness.

So far as being parents is concerned, that, too, is of the greatest aid. "From crib to college," as the "Parents' Magazine" puts it, our children are our teachers. You will arrive nowhere in sex education until you put away preconceived ideas and start to build on what you see babies, children, young people doing during the fourteen to sixteen of their waking hours—at work, at play, on street cars, behind microphones, at the beach, in the gymnasium. If you do not have children of your

own, borrow some—any age, all ages. Invite them to Sunday evening supper, take them to a circus, make them week-end guests at your farm or summer cottage—you need not be a parent, but you need to know children, not in rows at school but polka dotted all over the house. A most beloved teacher, queen of all eighth-grade boys and girls, seldom drove home Friday afternoon to her farm without a couple of pairs of young legs swinging from the box of her old buggy. She knew children as no other teacher in her city school, taught them more inside and outside of books and had cause to discipline them less.

The divorced—are they qualified? some one asks. I should say they might be better qualified than some others whose marriage was still intact outwardly, but not so well qualified, possibly, as those who had had bad sailing and weathered it. It is hardness, bitterness, sex antagonism, from whatever cause, which disqualifies for sex education work, not alone one's personal experience.

The opposite and not too desirable attitude is that of the unmarried woman whose sense of incompleteness magnifies the glories of marriage and it becomes the great white way toward life's only achievement. The best attitude toward marriage is one that looks upon it as a working partnership

which requires the best of all that one has, and one which rewards one usually in proportion to one's investment.

Whether married, single, or divorced, the counsellor in sex education and family relationships work must be a sexually poised and balanced person. She must accept the reality of the sexual life, accept it as the most satisfying experience for the great mass of mankind, and cease to search for vice in beauty or for beauty in vice. Right living will be right living, that is, and wrong living will be wrong with an unexpected clarity, a test of one's own emotional maturity without which sex guidance could not profitably proceed.

In every school there are no doubt women who would have made better wives and mothers than they have made teachers, and others who are making better teachers than they would have wives and mothers. But all in all, teachers who make a success of their teaching, as well as heighten their chances of marriage, cultivate those qualities which make good wives and mothers, become more womanly and more motherly. I know quantities of these women, and they are increasing as our approach to school work becomes more human and interesting. They are young and past young in point of age, are full of buoyancy and verve. Life

for them has never lost its zest, and romance is always around the corner, at least vicariously. Such a person has something to give sex education and to young people through its channels, and they in turn have something to give her, for she is not closed but open, receptive, warm, a living, glowing person.

Or the quieter, more reflective woman, the woman who though not married has lived, to whom life has done something, has not passed her by, has awakened her, laid a bloom upon her cheek, made her human and real—such a woman has much for young people. These two types of women are not sterile or bitter or hard. They may not have achieved marriage and children but they have achieved something which they will not lose and may use for the interpretation and inspiration of those young students who come their way.

As students grow older and the subject strikes nearer home in its phases, touching the sexual relationship and the intimacies of marriage, most young people appreciate and value the leadership of the happily married leader. Not only do they value the touch of the experienced person who may speak with poise and balance, but they value the presentation by women who are able, on the whole, to be more idealistic in the handling of

these phases than are men, without at the same time evading issues.

More than that. Let no one think that sex education or mental hygiene or psychiatry, or art or music, can leave a person or a school where it was, untouched and unaltered. In itself, sex guidance and teaching is a developing and illuminating experience from which neither counsellor nor those counselled can escape. It offers something for which there has been a deprivation, a hunger. Spontaneously, our natures turn toward it and benefit by it, if at times with resistance of old muscles to new activities and freedom. I am speaking from personal association with women in school work, who repeatedly have said after a semester of work, "I feel so differently about this whole subject," or "I feel made over—lighter, happier in every way." So the doors of sex education work are open to both those who are married and those who are not—*provided* one has taken the sexual life to one's heart, in feeling if not in practice.

Then there are numbers of other attributes—size, dress, manner, voice, speech—all of which bear significantly upon success in this field. First of all, whether man or woman, one must be a good example to one's own sex. Men must be definitely masculine with that quality which used to be

called manly, and women must be feminine with that quality which used to be called womanly. It won't do to shade even slightly in the opposite direction. But, of course, by masculine one does not mean roughness in handling his subject, nor by feminine does one mean an ineffectual delicacy. One means a clearly defined, all-around exemplar of one's own kind.

Teachers are notably good dressers. A generation ago they used to wear to the classroom one gray and dust-proof dress until it wore out and then replace it with another. When we met our teachers at church or on any other occasion they were quite unrecognizable to us—so gay and pretty. Today there are few teachers who do not know the value of an attractive appearance. Work goes better, discipline is easier, hours move faster. In sex education, as in any kind of work, one's dress must be not only attractive and pleasing but in harmony with one's subject and one's interpretation of it, for one's dress is an expression of one's way of thinking.

There is a story of a man who had been asked to address a group of young people on marriage and allied subjects. He had never done it before, and spent some anxious days and nights in preparation. When the evening arrived he was sitting

on the platform in borrowed ministerial garb—black coat, tie, everything, it was said, but the undertaker's gloves. "It's not that serious," some one told him, "just be natural." The next evening he was sitting in shirt sleeves on the platform, knees crossed, reading the evening paper as the audience assembled.

In sex education work, one's dress does well to carry with it some of the subtle qualities of sexual living—beauty, esthetics, modesty, health, grace, and simplicity. It must be a part, a link, shall we say, between oneself and one's subject. Careless dress, like careless speech, does an injustice to sex education work, tarnishes it, makes it unlovely. One must dress in taste, be as tidy as a new pin, and guard against the two extremes of the ultra on the one hand or the too-conservative on the other, lest one be too closely suggestive of one's own students or too remotely old-fashioned and out of step.

Audiences enjoy an appropriately and pleasingly dressed speaker, but they do not like to feel that her toilet was of greater importance than her message to them. I recall a group leader whose engagement was cancelled after she had appeared four successive afternoons in four complete costume changes. "It was too much for us," the or-

ganization telephoned headquarters, "we didn't want a style show." What they meant was that there had been more fashion than facts, more interest in dress than in the subject she was asked to teach. Always dress must be subordinate to work, and not conspicuous either for its excess or its deficiencies. For young people it should inspire not envy but an admiration which is an inspiration—"That is the way I'd like to look when I'm grown."

As for modesty, one has a position to maintain among many standards. Communities differ. What one may venture in one is unwise in another so far as dress is concerned. In most communities, modesty today is built upon a sane code of health and of comradely living, when absence of sex consciousness allows men and women to mingle wholesomely in sports, in recreation, in business, in all the common affairs of daily life. Yet there is still a modesty to be observed which if less extensive is nevertheless actual and imperative. This a leader bears in mind not only in regard to herself but in relation to her students. It is a modesty which while it permits shorts and socks, short skirts and sleeves, halter bodices and low-cut blouses, confines their wearing to suitable places and rigidly observes the rules forbidding unesthetic or careless exposé in posture or conduct. A modest per-

son, if careless and unesthetic, can be quite as disturbing as one who is intentionally provocative. Sweaters, jersey dresses, and uplift brassieres, for example, create cause for caution and modesty, as we were convinced recently when a group of high school youngsters referred to one of their teachers as "Pointy." Modesty is still with us—not the modesty of our grandmothers' and mothers' day—but a better, stronger, and truer modesty which is willing to lay aside prudery, to promote the dignity and health of the human body while at the same time one refuses to use it as a means of display and a method of personal attraction.

Speech is another of the outward expressions of the inner man, and in sex education work reflects not only himself but, as we mentioned earlier, his technical equipment. Crudities jar, especially when one is striving to build up a background of social graces, the amenities and the niceties of human intercourse. "Fellows," a young scout master was heard to say to his troop at a first fall meeting, "fellows, I met up with a girl this summer and hung my pin on her. How's about a little celebration?" This young man spoke with all sincerity and all respect. The boys no doubt understood his casualness, but there was a flaw, nevertheless. How totally different would have been, "Fellows, I have

a happy announcement to make. This summer I had the pleasure of meeting a young woman who has promised to be my wife . . ." Certainly so important an event as an engagement of marriage deserves a dignified and fitting announcement.

Fully as important as carefully chosen speech is a well-modulated voice. For many reasons, not alone because of good manners, sex education requires a trained voice, one that is low-pitched but with good carrying qualities. If there is one subject in the world which does not lend itself to either soft mumblings or loud shoutings it is a subject of sex significance. Lowering one's voice, as in the old hushed fashion, opens one to the accusation of being afraid to speak out normally, while shouting and speaking stridently sacrifice the finer shades of emphasis and feeling, so important to effective speech. It also carries one's voice out of bounds, for it filters through the crevices of door and window out into a world readily startled by strange words. Whatever is to be said on the subject of reproduction and allied subjects must be said to a visible audience and the one for which it is intended. I recall a most distressing hour when, sitting in a public place, some one discovered my identity, sat down beside me and in a loud voice discussed at length certain sex

education procedures to the consternation of people round about. Under all circumstances, but especially in the pursuit of sex teaching, voices like speech must be pruned and modified to suit the time, the place, and the listener. To be conspicuous, or to reach an involuntary audience, is to bring criticism not only upon oneself but upon one's work.

When conservative persons break away from traditional conventions and observances, there is a tendency to jump clear of all restraints and find oneself out of bounds. Not the experienced person but the novice, the newcomer, is the extremist. Yet happy as one may feel in setting aside old restraints and old concepts, if one becomes a radical, one loses step with both the conservatives and the progressives. Especially one loses influence with young people, for much as they scoff at "being old-fashioned" and "stuffy," they are critical and exacting, especially of those who are in positions of dignity and authority. "Why do we have to listen to *her?* She is no more than we are!"

There is the matter of smoking. Whatever young people do among themselves, I believe that most of them prefer that their mothers and women teachers do not smoke. Boys especially dislike smoking and consider it "mannish" in women, "too bold"

in girls. In the privacy of one's own home, "off duty," one may do as one pleases, and no duplicity is involved. "Do you believe in girls' smoking, Miss Bancroft?" "I don't object to it when a girl is grown if she doesn't flaunt it and observes the conventions. High school, I think, is not the place for it, and certainly if one's parents or one's sweetheart object to it, it is a small thing to give up . . ."

Every one has an opinion about sex education, even when he has not read a word or heard a word in exposition of it. Surely one would not enter into propaganda talk with such a one at the drop of a hat. "I don't believe in all this sex stuff. There's too much of it already," is a frequent challenge. "I quite agree with you," you can reply in all honesty, bearing in mind the word "stuff," and turn the conversation into other channels. One doesn't allow oneself to be baited, to entertain other people for the sake of satisfying a curiosity, or to let oneself in for gossip. A sincere interest one meets sincerely, but even so, very little is enough in general conversation.

The slurs are less nonchalantly turned aside. One resents the implication that one is "not nice" because one teaches a better way of life. This story, in essence, is told of D. H. Lawrence, author and student of the sexual forces in their emotional

aspects. He was attending a party when some one began to tell a ribald joke. "Hi, Lawrence, come listen to this—it's right down your alley." Lawrence listened a moment, then turned on his heel. "It's down an alley, all right, but not mine. I live on the main street." *Honi soit qui mal y pense.*

A student of mine told me as soon as she was known to be attending a sex education series new fellows and old began flocking around her. "Well, what do you know?" "Here's a good one, let's see if she understands this one." She is reminded of the old "smut" term for freshman lectures, and the newer title for speakers, "sexaphones." You don't "rise" to off-color stories—you pass them by or turn them off with another and better story which rights the situation. Children's sayings are always good laugh-bringers and clear the air. One evening Betsy's parents were serving cocktails when Betsy, long since tucked in bed, came stealing down the stairs to take a look at the party. "Hello there," said a nice young man espying her and coming over to be sociable, "where did you come from?" "I came from my mommie. Did you?" Yet there are communities, still too conditioned to the traditional idea of the unmentionable, which will question the dignity of any lightness of touch.

As for one's conduct toward men and boys, if one is a woman, especially toward the older boys in one's class and within one's sphere of influence, one must be completely neutral, a woman without beguilements, without a tinge of the "easy," familiar, the you-don't-need-to-worry-about-what-I-can-take attitude. A physician can discuss any subject with a patient and still be a gentleman. A woman sex education leader must be able to discuss any subject with her students and still be a lady. In this detached but understanding manner she not only keeps her own position secure and unassailable but she opens up for young people the habit of careful and restrained speech among themselves —not inhibited speech, but careful speech. Boys may come to one's desk to chat informally, gossip a little, but the friendliness keeps its bounds, also the confidences—which demand that nothing travels beyond the doors, and nothing is "just between ourselves."

As for one's contemporaries—with the men and women whom one meets socially or professionally, and appears with in public, the same attitude of reticence and dignity is to be observed. A teacher who in her school was known for her severity toward boys and girls was in the habit of spending her vacations "on her own," she said, "where she

could do as she pleased." As inevitably happens, a couple of her senior students crossed her path in the midst of her ex-officio gaieties, and brought back a toothsome tale. It is not that a teacher or a counsellor shall not enjoy off-duty relaxations, wear a ribbon in her hair, a bathing suit on her pretty figure, and sandals on her feet while she is made love to by some gallant gentleman, but she loses influence when she loses judgment and is not true in August to the work for which she stands in September.

Yes, sex education is a lifetime, round-the-clock job. You live it, sleep it, drink it—and when you do, the clean strength and wholesomeness of its teachings will become a part of you, until you in turn will respond to its revivifying powers and be made new.

Technical Qualifications

Academic qualifications in most professions are more readily fulfilled than personal ones. Yet in sex education, technical training is still a catch-as-catch-can affair. It is the blind spot in general teacher training. To be sure, there are isolated courses in psychology, mental hygiene, sociology, child development, domestic arts, and other allied

subjects offered in various departments, but with few exceptions there are no organized correlated courses of studies in our graduate schools, focussed to meet the requirements of sex education work and leading toward an advanced degree. There are a few, I believe, and some good work is being done, but in general, the country over, sex education does not have a representation in educational schools and colleges, and many faculties would not feel themselves qualified to direct such study.

Because topics related to the sexual life for so long have been segregated from other departments of education and only recently are beginning to slip quietly into the general curriculum of the public schools, many are concerned lest special courses in teacher training may divorce our educational interests, focus them again on sexual subjects *as such,* and so thrust them back into the old segregated position. One does not need to acquire a subject or impart it to others in its final form in order to have it accepted as a part of a whole great body of knowledge, or as part of a whole great experience, but one does need to assimilate that subject, make it bone of one's bone and flesh of one's flesh, if it is to be that to others and not a mere external acquisition.

This accomplishment of personal adjustment to

the subject as well as the acquisition of knowledge concerning it, and its direction in the public schools, should be the work and the objective of teacher training colleges. Anxiety on the part of training schools should be directed not only toward the preparation of carefully equipped accredited new workers, but toward meeting the needs of those who under the pressure of demand are already working in the field, handicapped by their own misgivings and uncertainties, as well as by their limited knowledge. Many is the person who has taken over sex teaching with no more than a week or two of personal cramming from all available sources. The country is filled with courageous young men and women doing courageous jobs of this sort with only themselves as mentors and guides.

Lacking specific training centers, most students search about and take pot luck in other fields of study. Today the whole program of human relationships, marriage counselling, and family living is being built up and carried out by persons in many professions. Mr. Robert Foster of the Merrill Palmer School in Detroit is completing a study in this sphere. Teachers of biology, physical education, home economics, child guidance, mental hygiene, child development, also nurses, min-

isters, doctors, social workers, social hygiene workers—each one very naturally uses his chosen field as his point of departure, or for the basic material of his course. The biology teacher lists heavily to the biological side, the doctor or nurse to the medical, the psychiatric social worker to the emotional, and so on. Yet eventually all of them tend to broaden out and unify their contributions to meet the requirements of the work.

Because as yet no two experienced workers have come into this field with the same preparation, I may be forgiven for offering a kind of cafeteria repast in a large range of subjects as background, to be chosen as one passes along, registration card in hand. Some of the subjects are basic—the proteins of the meal. Others may be considered merely appetizers, salad, and dessert. As an old-timer, I shall recommend them all, but not for any one tray-load! Nor does one need to become expert in them all, even if one could, for though some will be required for basic material, others will be useful for illustrative purposes. Think of the picturesque ornamentation to be found in Westermarck, Sumner, Frazer, and the rest, to say nothing of their points of view—for it is the seasoned, well-stocked mind upon which all good teaching and guidance depend.

It is the seasoned outlook, too, which is the reward of study, not in one but in a dozen fields of thought. In the past, sex teaching has been too insular and too isolated from the collective thought of mankind.

List of Studies for Teacher Training Background

1. Anthropology
2. Biology, mammalian in particular
3. Child care and development
4. Counselling and interviewing
5. Handicraft and creative activities
6. Home financing and investments
7. Human reproduction
8. Marriage and the family
9. Method and technique of sex guidance and teaching
10. Nature study
11. Program planning and execution
12. Psychiatry and mental hygiene
13. Psychology
14. Recreation and dancing
15. Sociology
16. Vocational guidance

Of these subjects, biology and human reproduction, child care and development, mental hygiene and psychology, sociology including study of the

family, are basic, while the others are enrichening and stabilizing. Most universities offer all of the subjects distributed through their various schools and colleges. For the training of student teachers, the basic courses would require refocussing in terms of their application and use in sex education and family life work, which could be accomplished through a coordinator well versed in the contributing subjects and the technique of their use. Most courses in biology, for example, would require considerable expansion on the subject of human reproduction. One of the most complete zoological museums I have ever seen boasts a new and glossy manikin that is strictly neuter with not so much as a nipple or navel to indicate that "it" was born of woman. The study of child development today is just beginning to include the study of sexual development, and the study of psychology the sex emotion, the study of the family the relationships of husband and wife, father and mother.

For the assimilation of their knowledge that it may be part and portion of them, and not merely an alien mental acquisition, students of sex education, like students of other educational subjects, must experience it, live it, anywhere, everywhere, day by day. Yet the teacher in training is not, usu-

ally, equipped even to carry on her observations of sex development. She does not know what to look for nor what action to take. She has no criterion to guide her, no basis of judgment. This personal orientation must first be supplied her in her own education and training.

In addition, excellent clinical training for teachers (aside from the observation of children at school and at play) is a season of supervised social work. Teachers for the most part live in the world of ideas, of learning, of ordered routine, of intellectual accomplishment. Social workers live in a world of conflict between the passions—loves, hates, ambitions, jealousies, discouragements, desires of human beings, and the conduct these conflicts inspire. The realities, the shocking, mocking, stark realities of life strike a teacher obliquely, not squarely as they do a social worker. The social worker learns to take everything in her stride. Her sensibilities are alert to human values. Like a physician, she learns to forget herself in her work and go impersonally but understandingly about her task of social and moral rehabilitation.

Yet most assuredly sex education is not merely a course of study, not a tale that is told. It is a way of life. This way of life we have already begun to offer young people and to it they are already re-

sponding. Their thoughts are clearer, their steps are surer, their loves are sweeter, their future homes hold greater promise of permanency and happiness—all because the inner wellspring of their being, a dynamic, vivifying inheritance, has been released, free to work out its creative and procreative purposes. As arbiter, sponsor, guide in the direction and fulfillment of these gifts the school has its opportunity. Put to work at any age, in childhood, in youth, this native endowment will emerge a constructive stabilizing force to cherish and hold fast in a world of many values, of which it is one most zealously to be conserved.

BIBLIOGRAPHY

BACKGROUND READING

1. Bell, Howard M. Youth Tell Their Story. Washington, D. C.: American Council on Education, 1938.
2. Benedict, Ruth. Patterns of Culture. New York: Houghton Mifflin Co., 1934.
3. Blos, Peter. The Adolescent Personality. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1941.
4. Bromley, Dorothy Dunbar, and Britten, Florence Haxton. Youth and Sex. New York: Harper & Bros., 1938.
5. Calverton, V. F., and Schmalhausen, Samuel D. The New Generation. New York: The Macaulay Co., 1930.
6. Carrel, Alexis. Man the Unknown. New York: Harper & Bros., 1935.
7. Davis, Katherine B. Factors in the Sex Life of Twenty-two Hundred Women. New York: Harper & Bros., 1929.
8. Davis, Maxine. The Lost Generation. New York: The Macmillan Co., 1936.
9. Dell, Floyd. Love in the Machine Age. New York: Farrar & Rinehart, Inc., 1930.
10. Dickinson, R. L. Human Sex Anatomy. Baltimore: The Williams & Wilkins Co., 1933.

11. Ellis, Havelock. Psychology of Sex. New York: R. Long & R. R. Smith, Inc., 1933.
12. Goodsell, Willystine. Problems of the Family. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1936.
13. Guyer, M. F. Being Well Born. Indianapolis: The Bobbs-Merrill Co., 1927.
14. Guttmacher, Alan Frank. Into This Universe. New York: The Viking Press, 1937.
15. ———. Life in the Making. New York: The Viking Press, 1933.
16. Hamilton, G. V., and McGowan, Kenneth. What Is Wrong with Marriage? New York: A. & C. Boni, 1929.
17. Hart, Hornell and Ella. Personality and the Family. New York: D. C. Heath & Co., 1935.
18. Hoskins, R. G. The Tides of Life. New York: W. W. Norton & Co., 1933.
19. Isaacs, Susan. The Social Development of Young Children. New York: Harcourt, Brace & Co., 1933.
20. Landis, Carney, et al. Sex in Development. New York: Paul B. Hoeber, Inc., 1940.
21. Lynd, R. S. & H. M. Middletown. New York: Harcourt, Brace & Co., 1929.
22. Mead, Margaret. Coming of Age in Samoa. New York: W. Morrow & Co., 1928.
23. ———. Growing Up in New Guinea. New York: W. Morrow & Co., 1930.
24. ———. Sex and Temperament in Three Primitive Cultures. New York: W. Morrow & Co., 1935.
25. Mearns, Hughes. Creative Power. Garden City, N. Y.: Doubleday Doran & Co., Inc., 1929.

26. ———. Creative Youth. Garden City, N. Y.: Doubleday Doran & Co., 1925.
27. Parshley, H. M. The Science of Human Reproduction. New York: W. W. Norton & Co., 1933.
28. Plant, J. S. Personality and the Cultural Pattern. New York: The Commonwealth Fund, 1937.
29. Richmond, Winifred V. Introduction to Sex Education. New York: Farrar & Rinehart, Inc., 1934.
30. Schienfeld, Amram. You and Heredity. New York: Frederick A. Stokes Co., 1939.
31. Sumner, William G. Folkways. Boston: Ginn & Co., 1907.
32. Wells, H. G. et al. Reproduction, Genetics, and the Development of Sex. Garden City, N. Y.; Doubleday Doran & Co., 1932.
33. ———. The Science of Life. Garden City, N. Y.: Doubleday Doran & Co., 1934.
34. Zachry, Caroline. Emotion and Conduct in Adolescence. New York: D. Appleton-Century Co., 1940.

DAY BY DAY READING

1. Aldrich, C. Anderson and Mary M. Babies Are Human Beings. New York: The Macmillan Company, 1938.
2. Alschuler, Rose. Two to Six. New York: W. Morrow & Co., 1933.
3. Anderson, John E. Happy Childhood. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1933.
4. Arlitt, Ada Hart. The Adolescent. New York: Whittlesey House, McGraw-Hill Book Co., Inc., 1938.
5. ———. The Child from One to Twelve. New York:

Whittlesey House, McGraw-Hill Book Co., Inc., 1930.

6. Beverley, Bert I. In Defense of Children. New York: The John Day Co., 1941.
7. Bigelow, Maurice A. Adolescence. New York: Funk & Wagnalls Co., 1937.
8. Blanchard, Phyllis M., and Manasses, Carolyn. New Girls for Old. New York: The Macaulay Co., 1930.
9. Boettiger, Elizabeth F. Children's Play, Indoors and Out. New York: E. P. Dutton & Co., 1938.
10. Breen, Mary. Partners in Play. New York: National Recreation Association, 1934.
11. Dimock, Hedley S. Rediscovering the Adolescent. New York: Association Press, 1937.
12. Dixon, C. Madeleine. High, Wide and Deep. New York: The John Day Co., 1938.
13. Ellenwood, James L. There's No Place Like Home. New York: Charles Scribner's Sons, 1938.
14. Fisher, Dorothy Canfield, and Gruenberg, Sidonie M. Our Children. New York: The Viking Press, 1932.
15. Gilbreth, Lillian E. The Home-maker and Her Job. New York: D. Appleton-Century Co., 1927.
16. Gruenberg, Sidonie M. We, the Parents. New York: Harper & Bros., 1939.
17. Hollingworth, Leta. The Psychology of the Adolescent. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1928.
18. Kugelmass, Isaac N. Growing Superior Children. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1935.

19. Kyrk, Hazel. Economic Problems of the Family. New York: Harper & Bros., 1933.

20. Levy, John, and Monroe, Ruth. The Happy Family. New York: A. A. Knopf, 1938.

21. MacRae, Wendell. Willingly to School. New York: Round Table Press, 1934.

22. Manwell, Elizabeth S., and Fahs, Sophia L. Consider the Children, How They Grow. Boston: The Beacon Press, 1940.

23. Schwab, Sidney I., and Veeder, Borden S. The Adolescent, His Conflicts and Escapes. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1929.

24. Strang, Ruth. An Introduction to Child Study. New York: The Macmillan Company, 1938.

25. Taylor, Katharine. Do Adolescents Need Parents? New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1938.

26. Thom, Douglas A. Everyday Problems of the Everyday Child. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1927.

27. ———. Normal Youth and Its Everyday Problems. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1932.

28. Williams, Frankwood. Adolescence. Studies in Mental Hygiene. New York: Farrar & Rinehart, Inc., 1930.

EDUCATIONAL READING

1. Bain, Winifred E. Parents Look at Modern Education. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1935.

2. Baruch, Dorothy. Parents and Children Go to School. Chicago: Scott, Foresman & Co., 1939.

3. Cole, Natalie. The Arts in the Class Room. New York: The John Day Co., 1940.
4. Commission on Secondary School Curriculum. Science in General Education. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1938.
5. Goodykoontz, Bess, and Coon, Beulah I. Family Life in Our Schools. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1942.
6. Joint Commission on Curriculum Aspects of Education for Home and Family Living. Family Living and Our Schools. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1941.
7. Lee, J. Murray and Doris May. The Child and His Curriculum. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1940.
8. McKown, Harry C. Activities in the Elementary School. New York: McGraw-Hill Book Co., Inc., 1938.
9. Prescott, D. A. Emotion and the Educative Process. New York: American Council on Education, 1938.
10. Rockwood, Lemo Dennis. Teaching Family Relationships in the High School. Washington, D. C.: American Home Economics Association, 1935.
11. Ryan, W. Carson. Mental Health through Education. New York: The Oxford Press, 1938.
12. Teagarden, Florence M., Child Psychology for Professional Workers. New York: Prentice-Hall, Inc., 1940.
13. Washburne, Carleton. A Living Philosophy of Education. New York: The John Day Co., 1940.
14. Witty, Paul A., and Skinner, Charles E., eds. Mental

Hygiene in Modern Education. New York: Farrar & Rinehart, Inc., 1939.

READINGS IN SEX EDUCATION—For Adults

1. Bigelow, Maurice A. Sex Education. New York: The American Social Hygiene Association, 1936.
2. Burgess, Ernest W., and Cottrell, Leonard S., Jr. Predicting Success or Failure in Marriage. New York: Prentice-Hall, Inc., 1939.
3. Child Study Association of America, New York. Sex Education, Facts and Attitudes. New York, 1934.
4. Dell, Floyd. Love in the Machine Age. New York: Farrar & Rinehart, Inc., 1930.
5. Dennett, Mary Ware. The Sex Education of Children. New York: The Vanguard Press, 1931.
6. Everett, Millard S. The Hygiene of Marriage. New York: The Vanguard Press, 1940.
7. Folsom, Joseph K., ed. Plan for Marriage. New York: Harper & Bros., 1938.
8. Groves, Ernest R. Marriage. New York: Henry Holt & Co., 1941.
9. —— and Gladys H. Sex in Childhood. New York: The Macaulay Co., 1933.
10. Gruenberg, Benjamin C., and Kaukonen, J. L. High Schools and Sex Education. United States Public Health Service, Educational Publication No. 7, 1939.
11. Kinberg-von Sneidern, Julia. Sex Hygiene. New York: Henry Holt & Co., 1926.
12. Popenoe, Paul. Modern Marriage. New York: The Macmillan Company, 1940.

13. Richmond, Winifred V. The Adolescent Boy. New York: Farrar & Rinehart, Inc., 1933.
14. ——. The Adolescent Girl. New York: The Macmillan Company, 1925.
15. Shallcross, Ruth. Should Married Women Work? New York: Public Affairs Committee, 1940.
16. Stone, Hannah and Abraham. A Marriage Manual. New York: Simon and Schuster, 1935.
17. Strain, Frances Bruce. New Patterns in Sex Teaching. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1934.
18. Swift, Edith Hale. Step by Step in Sex Education. New York: The Macmillan Company, 1938.
19. Welshimer, Helen. The Questions Girls Ask. New York: E. P. Dutton and Co., Inc., 1939.
20. Westermarck, Edward. Marriage. New York: J. Cape and H. Smith, 1930.

READINGS IN SEX EDUCATION—
For Older Young People

1. Baruch, Dorothy W., and Reiss, Oscar. My Body and How It Works. New York: Harper & Bros., 1934.
2. Bigelow, William F., ed. The Good Housekeeping Marriage Book. New York: Prentice-Hall, Inc., 1938.
3. Clapp, Emily. Growing Up in the World Today. Boston: Massachusetts Society for Social Hygiene, 1932.
4. Corner, George W. Attaining Manhood. New York: Harper & Bros., 1938.

5. ———. Attaining Womanhood. New York: Harper & Bros., 1939.
6. Dennis, Lemo T. Living Together in the Family. Washington, D.C.: American Home Economics Association, 1934.
7. Dickerson, Roy E. Growing into Manhood. New York: Association Press, 1934.
8. Elliott, Grace Loucks, and Bone, Harry. The Sex Life of Youth. New York: The Association Press, 1929.
9. Fedder, Ruth. A Girl Grows Up. New York: Whittlesey House, McGraw-Hill Book Co., Inc., 1939.
10. Folsom Joseph K., ed. Plan for Marriage. New York: Harper & Bros., 1938.
11. Keliher, Alice. Life and Growth. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1938.
12. Levine, Milton, and Seligmann, Jean H. The Wonder of Life. New York: Simon and Schuster, 1940.
13. Lloyd-Jones, Esther, and Fedder, Ruth. Coming of Age. New York: McGraw-Hill Book Co., Inc., 1941.
14. McEvoy, J. P. Father Meets Son. Philadelphia: J. B. Lippincott Co., 1937.
15. Parker, Valeria H. For Daughters and Mothers. New York: Bobbs-Merrill Co., 1940.
16. Richmond, Winifred. Making the Most of Your Personality. New York: Farrar and Rinehart, Inc., 1942.
17. Strain, Frances Bruce. Love at the Threshold. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1939.
18. Stratton, Dorothy C., and Schleman, Helen B. Your

Best Foot Forward. New York: Whittlesey House, McGraw-Hill Book Co., Inc., 1940.

READINGS IN SEX EDUCATION—For Children

1. Bell, Evelyn S., and Faragoh, Elizabeth. The New Baby. Philadelphia: J. B. Lippincott Co., 1938.
2. deSchweinitz, Karl. Growing Up. New York: The Macmillan Company, 1935.
3. Ets, Marie Hall. The Story of a Baby. New York: The Viking Press, 1939.
4. Strain, Frances Bruce. Being Born. New York: D. Appleton-Century Co., Inc., 1936.